वीर - स्तुति

वंदन :

अनन्त ज्ञानमतीत दोपम्
अबाध्य सिद्धान्तममर्त्य पूज्यम् ।
श्री वीतरागम् जिनराज मुख्यम्
नमामि वीरम् गिरिसारधीरम् ।।

याचन :

यस्यज्ञानमनन्तवस्तुविषय यः पूज्यते देवतैः ।
नित्य यस्य वचो न दुर्नयकृतैः कोलाहलैः लुप्यते ।।
रागद्वेष मुखद्विषा च परिपद क्षिप्ताक्षणाद्येन सः
स श्री वीर विभू विधूत कलुपा बुद्धिविधत्ता मम ।।

दर्शन :

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचित
समभान्ति ध्रौव्यव्ययजनिलसतोऽन्तरहित· ।
जगत्साक्षी मार्ग प्रकट न परो भानुरिवयो
महावीर स्वामी नयन पथगामी भवतु नः ।।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व, श्रद्धा और तर्क जैसे विभिन्न विपयो की सिद्धान्त और व्यवहार के धरातल पर मौलिक विवेचना की गई है जिससे पाठक का हर जगह सहमत होना आवश्यक नही है।

इस पुस्तक की प्रमुख विशेपता जिसने मुझे विशेप आकर्पित किया है, वह है—धर्म का जिजीविपा और सहकार-वृत्ति के रूप मे प्रतिपादन। धर्म की सामाजिकता और वैचारिक औदार्य का तत्त्व पडितजी के लेखन मे वरावर अनुस्यूत रहा है। सर्वज्ञ-विवेचना मे आगमज्ञ, सर्वज्ञ और वेदज्ञ, तत्वज्ञ और सर्वज्ञ, विज्ञानी और सर्वज्ञ का सूक्ष्म भेदाभेद, तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की मीमासा मे ब्रह्मा, महेश और विष्णु की प्रवृत्तियो की समाहिति पडितजी की मौलिक चिन्तना और अभिव्यक्ति की विलक्षणता के उदाहरण है।

पुस्तक के अत मे प्रकीर्ण विपयो के अन्तर्गत पडितजी ने कई विवादस्पद विपयो पर अपनी स्वतत्र धारणा व्यक्त की है जो विचारोत्तेजक होने के साथ-साथ उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण की परिचायक है।

भगवान् महावीर के 2500वे परिनिर्वाण महोत्सव पर श्री जैन शिक्षण सघ, कानोड ने इस पुस्तक का प्रकाशन कर गतानुगतिक चिन्तन को नई दिशा और विस्तृत आयाम देने का जो प्रयत्न किया है, उसका स्वागत किया जाना चाहिये।

मुझे विश्वास है, यह पुस्तक युवा पीढी के लिए भगवान महावीर के तत्त्वज्ञान को स्वय सोचने-समझने की दिशा मे, एक सवल माध्यम सिद्ध होगी।

—डॉ० नरेन्द्र भानावत

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय एव
मानद निदेशक,
आचार्य श्री विनयचन्द्र शोध प्रतिष्ठान, जयपुर

23 जुलाई, 1974
सी–235 ए, तिलकनगर,
जयपुर–4

अनुक्रमणिका

दिव्यता, चेतन सत्ता, शाश्वतता एव आनन्द की रमणता की प्राप्ति कहानी का प्रतिफल या सफलता का प्रतीक सिद्धत्व की अमरता है।

वर्द्धमान, वीर, अतिवीर, सन्मति और महावीर ये सर्वज्ञ-महावीर की विभूति के परिचायक नाम है। इस सब नामो मे वीर-विभूति का असीम भण्डार भरा हुआ है। सर्वज्ञ-महावीर अथवा सन्मति महावीर कुछ भी कहे या वर्द्धमान, वीर और अतिवीर कहे, सभी शब्द सर्वज्ञ महावीर की अखण्डता के परिचायक हैं। मानव शरीर के समय में ये पाचो नाम, पाचो विशेषताओ को जताने वाले थे और मानव देह में निर्वाण होने पर मुक्त अवस्था मे भी पाचो नाम उपयुक्त लगते हैं। नाम कर्म का नाश कर वीर ने सिद्धत्व प्राप्त कर लिया था। जिस कारण इस देह को धारण की उस कार्य की सफलता प्राप्त करली थी। सफलता प्राप्ति के वाद भी आज तक जो ऐश्वर्य आत्म प्रकाशमय और सन्मति प्रचार-सूत्रादि ज्ञान रूप जगत मे विद्यमान है, उसे ही हम "सर्वज्ञ-महावीर" पदो से अलकृत करते हैं।

वे (महावीर) सिद्धावस्था मे अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, अटल अवगाह आदि आठ गुणो से सदा वर्द्धमान है। आठ गुणो से वीर है। अति वीर भी इन्ही गुणो से वने और सर्वज्ञत्व मे रमण करने से सन्मति भी कहलाते है। महावीर स्वय सिद्ध होने से प्रशस्त हैं। दुनिया मे एक युद्ध को जीतकर वीरचक्र प्राप्त करता है, वह वीर कहलाता है। लेकिन जिस महान् व्यक्ति ने आत्मा पर विजय पाई, कर्म शत्रुओ पर विजय पाई, कषायो से मुक्ति प्राप्त की और सब देवो और मानवो मे उच्च गति और स्थिति मुक्ति लक्ष्मी का वरण किया। अत वे सदा के लिए महावीर वन गये। उनके वरावर कोई वीर नही, कोई सुभट नही, कोई पुरुषोत्तम नही, कोई महात्मा नही और कोई अवतार नही। वे परमात्मा वन गये अत महावीर हो गये।

सर्वज्ञ

विश्व के सम्पूर्ण कालिक ज्ञान के ज्ञाता को सर्वज्ञ कहते हैं। यह पारिभाषिक व्याख्या सर्वज्ञ की है। तीनो लोक और तीनो काल की सभी द्रव्यो की सम्पूर्ण पर्यायो का ज्ञान एक साथ सर्वज्ञ को होता है, ऐसा परिपाटी के अनुसार माना जाता है।

शब्द से अर्थ-सबको जानने वाला सर्वज्ञ कहलाता है। मालूम पडता है, सर्वज्ञ ऐसा शब्द है जो जिन केवली और तीर्थंकर के लिए व्यवहृत होता है। जो सिद्ध हो जाते है, वे भी सर्वज्ञ होते है। सर्वज्ञ का अर्थ सामान्यतया आगमज्ञ से भी लिया जाता है।

आगमज्ञ और सर्वज्ञ

"आगमज्ञो हि सर्वज्ञ" आगमज्ञ निश्चय मे सर्वज्ञ है। आत्मा से जानने योग्य आगम। आगम की उत्पत्ति आत्मा से और आप्त पुरुषो के सकलित वचनो से मानी जाती है। जो सर्वज्ञ तीर्थंकर महावीर के प्रणीत प्रवचन हैं, उन्हे श्रुत-शास्त्र-ग्रन्थ-सूत्र रूप मे सम्पादित एव सकलित किये गये हैं, आगम कहलाते हैं। वेद और आगम एक ही अर्थ के द्योतक हैं। विद् धातु से वेद बना। ज्ञान का सकलन या ज्ञान दोनो अर्थ व्यवहृत हैं। वैदिक लोग वेदो को अपौरुषेय मानते हैं। किसी अदृश्य-ईश्वर शक्ति द्वारा रचे हुए मानते है। इसी तरह जैन लोग आगमो को तीर्थंकर महावीर प्रणीत कहते है। सकलित एव सम्पादित अथवा ग्रथित ग्रन्थ, सूत्र, वेद अथवा शास्त्र सत्य हैं, क्योकि ईश्वर, परम पुरुष अथवा सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए हैं। अपौरुषेय अथवा

चेतन है, चेतन ही ज्ञान है। ज्ञान जब वस्तु की स्थिति का अवगाह लेता है, तो पूर्ण ग्राह्य शक्ति सर्वज्ञ बन जाती है। ज्ञान स्वय अनन्त है। अत सबका ज्ञान हो जाना सर्वज्ञत्व में ही सम्भव है।

एक अगुली की रेखाए, चमडी, रक्तवाहिनी आदि असख्य अवस्थाओं का पूर्ण वर्णन करना मानव के वश की बात नही। चूकि साधारण मानव और विज्ञाता मानव उपलब्ध चक्षुरिन्द्रिय के विषय से ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है और वह भी रूपी पुद्गलो के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का ही। चूकि विज्ञान भी अणु से परमाणु की ओर जाते हुये अभी तक सबसे छोटे प्रदेश परमाणु का पूर्ण ज्ञान नही कर पाया है। जो साधन उपलब्ध किये जाते है, वे उन्ही के प्रमाण तक उसका भेद बताते है। पूर्ण भेद अथवा सही परमाणु का ज्ञान अनन्त वर्षो की खोज के बाद भी वैज्ञानिक नही पा सकते। उसे जानने के लिए चेतन की शक्ति चाहिए। वह चेतन की अनन्त शक्ति ही उस परमाणु का भेद पा सकती है। जिसके दो टुकडे नही हो सकते, ऐसा परमाणु किसी भी बाह्य पौद्गलिक यत्र से देखा, नापा और तोला नही जा सकता। चूकि वह यत्र भी परमाणुओ के पिण्ड पुद्गल से बना है। इसके ज्ञान को पाने की कोशिश करने वाला जीवात्मा जब अपनी आत्मा की पूर्णता को पा ले, चेतन सत्ता को प्राप्त करले, केवल ज्ञानमय बन जाय, तभी उसका पूर्ण भेद पा सकेगा। जो एक परमाणु का पूर्ण भेद पा जाता है वह सारी सृष्टि का पूर्ण भेद पा जाता है। सर्वज्ञ ही सब भावो को जानता है। अत जो सम्पूर्ण लोक के द्रव्यो के भावो को जानता है वह सर्वज्ञ होता है और जो लोक के एक द्रव्य के सम्पूर्ण भावो को जानता है वह भी सर्वज्ञ होता है। दोनो के ज्ञान मे कोई अन्तर नही। अत आगम मे यह पद व्यवहृत है कि जो एक को पूर्णतया जानता है, वही सम्पूर्ण जगत् को पूर्णतया जानता है। अनन्त वस्तुओ की ज्ञान की पूर्ण शक्ति जिसमे विद्यमान है, वह

उनके उपर्युक्त एक सूत्र से ही सर्वज्ञता का बोध हो जाता है।

तत्वज्ञ और सर्वज्ञ :

त्रिपदी का ज्ञान भी सर्वज्ञता का द्योतक है। सभी द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है। "उत्पाद्व्यय ध्रौव्य युक्त सत्" और 'सद्रव्यस्य लक्षणम्'। उत्पात व्यय और ध्रौव्य युक्त सत् होता है और सत् है वही द्रव्य है। द्रव्य का सदा अस्तित्व रहता है। उसकी पर्याये उत्पन्न होती हैं, नष्ट होती है और अपने रूप मे कायम रहती हैं। इस तरह का परिवर्तन ससार का क्रम है। इस क्रमिक ज्ञान को भी सर्वज्ञता का परिचायक मानते हैं। तत्व के ज्ञान की परिधि भी इसमे आवटित होती है। इस प्रकार के ज्ञान के ज्ञाता को तत्वज्ञ-सर्वज्ञ कहते हैं।

तत्व के जीव और अजीव अथवा जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, वध और मोक्ष या जीव, अजीव, आस्रव, सवर, निर्जरा, वध और मोक्ष। ये ऐसे ही दो या सात अथवा नव भेद विविक्षा से किये गये है। तत्वो के यो अनन्त भेद तक हो सकते है। जो तत्वो का पूर्ण ज्ञान रखता है, वह तत्वज्ञ कहलाता है। तत्वो का सामान्य जानकार भी तत्वज्ञ होता है। "तत्वज्ञो हि सर्वज्ञः" यह वाक्याश भी पूर्णतया नही तो प्रधानतया लागू हो सकता है। तत्व को भलीभाति जानने वाला सर्वज्ञ हो सकता है, होता है। जीवाजीव का जानकार श्रावक भी होता है, देशव्रती भी होता है और सम्यक्त्वी भी होता है। साधु-साध्वी तत्वो की जानकारी के वाद ही बनते हैं लेकिन यह तत्व ज्ञान ऊपरी ज्ञान, मति-श्रुति निष्पन्न होता है, जो तत्वो का सम्पूर्ण ज्ञान होना है, वह तो केवलज्ञान के समय ही हो सकता है। सच्चा और निष्णात तत्वज्ञ, सर्वज्ञ ही होता है।

सामान्य जनता की बुद्धि कौशल्य मे आज के विद्वान, तत्वज्ञ को

वेत्ताओ ने इनका नाम कार्य की दृष्टि से ब्रह्मा–उत्पादन करने वाला शक्ति–उत्पत्ति, महेश–सहार करने वाली शक्ति–व्यय और विष्णु–पालन करने या कायम रखने वाली शक्ति–ध्रौव्य उचित काल्पनिक ईश्वर माने है। बिना इन शक्तियो के ज्ञान के आध्यात्म ज्ञान सूना है। जितने भी भारतीय दर्शन है और उनमे भी जो आध्यात्म विज्ञान को मानने वाले हैं किसी न किसी रूप मे त्रिपदी को स्वीकार करते हैं। यह ही महावीर की सर्वज्ञता का प्रभाव सारे विश्व के दर्शनो मे अकित है। इसीलिए महावीर सर्वज्ञ है।

त्रिपदी-ब्रह्मा, विष्णु और महेश की त्रयात्मक शक्ति का पूर्ण ज्ञान पाना सारे विश्व के सम्पूर्ण काल को जान लेना है। विश्व के चप्पे चप्पे पर, अनन्त ब्रह्माण्डो के अणु अणु पर जो सक्रमण, परिक्रमण और परिवर्तन हो रहा है, हो गया है और होगा, उन सबका पूर्ण ज्ञान जिसमे रहता है वह सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है—अनन्तदर्शी है और अन्तदर्शी है। जो वेदाती तीनो ईश्वरो की सम्मिलित शक्ति से विश्व का सचालन स्वीकार करते हैं वे वेदान्ती भी उनका "नेति नेति इति निगम पुकारा" बोलकर अनन्तता का परिचय देते है। ऐसी अनन्तता का ज्ञान जिसमे वर्तमान है, वही सर्वज्ञ है और वैसे ही सर्वज्ञ महावीर है।

सत् त्रयात्मक है और चित् उसका ज्ञाता है। अत जब चित सत् का ज्ञाता बनता है तो सर्वज्ञ हो जाता है। जब सत् चित वाला सर्वज्ञ होता है तो वह आनन्दमय बन जाता है। इस तरह पूर्ण पुरुष, पूर्ण चेतन, पूर्णज्ञ, पूर्ण वेत्ता और प्राज्ञ ईश सच्चिदानन्दमय बन जाता है। इसे ही वेदान्ती ईशत्व का पूर्ण ऐश्वर्य स्वीकारते हैं। इसे ही जैनी मुक्तावस्था की स्थिति का भान कराते हैं। उपनिषदकार आत्मा से परमात्मा बन जाने की गति और स्थिति को सच्चिदानन्दमय सर्वज्ञ रूप मे स्वीकारते हैं।

मानव ने खाने के पात्र, रहने के मकान, पहनने के कपडे, पकाने के साधन, यातायात के साधन, अस्त्र-शस्त्रादि के प्रयोग प्रारम्भिक काल के विज्ञान के ही तो फलरूप आविष्कृत हुए हैं। क्या हम उन्हे निराहृत कर सकते है ? जिस मानव ने कला का प्रथम आविष्कार किया, उस नीवभूत विज्ञान पर ही तो आज का विज्ञान बढा है। हम उस विज्ञान को कैसे भूल जाते है। भूत के आधार पर वर्तमान खडा है, और वर्तमान के आधार पर भविष्य का निर्माण होगा। यदि सृष्टि अनादि है, तो विज्ञान भी अनादि है और सृष्टि अनन्त है तो विज्ञान भी अनन्त है। अनन्त वर्षों तक विज्ञान चलता रहेगा। नित्य नये ज्ञान की और साधनो की उपलब्धि होगी। लेकिन विज्ञान का अन्त काल और वस्तुओ के ज्ञान की अनन्तता मे समाया हुआ है। विज्ञान का सही दर्शन यही तो हो सकता है।

जो जीवन साधनो के लिए बाह्य उपकरणो की खोज करते हैं, वे भी वैज्ञानिक है और जो जीवन के आध्यात्मिक अन्वेषण और प्रगति के धनी है, वे भी वैज्ञानिक ही हैं। वैज्ञानिक भौतिक साधनो से, भौतिक ज्ञान एव भौतिक विज्ञान की उपलब्धि करते है। उसी तरह वैज्ञानिक आध्यात्मिक साधनो से आध्यात्मिक ज्ञान एव शक्ति की उपलब्धि करते हैं। अत दोनो वैज्ञानिक विज्ञान के ही पुजारी है। विशिष्ट ज्ञान को विज्ञान कहते है। आत्मा भी एक ज्ञातव्य वस्तु या द्रव्य है और जड भी एक ज्ञातव्य है। जो जीव और जड का ज्ञानार्जन करता है, जो वैज्ञानिक आध्यात्मिक प्रक्रिया मे जीव तथा अजीव सम्बन्धी विज्ञान का पता पाते हैं और उसके उच्चतम शिखर तक पहुंचते हैं, वे सही माने मे परम वैज्ञानिक है। उन्हे ही परम ज्ञानी, परमात्मा, परमेश्वर और परमदर्शी कहते है।

विज्ञान, अध्यात्म का ज्ञान भी देता है और भौतिकता की शरण में ग्रहण करता है। लेकिन परम ज्ञान, भौतिकता से ऊपर उठ कर,

द्रव्यो के अनन्त पर्यायो का भी एक साथ ज्ञान होता है। अतः पर्याय वर्णन भी अल्पज्ञो के लिए बतलाया गया है। सम्पूर्ण ज्ञान का लग ज्ञान नही होता। सर्वज्ञ पूर्ण ज्ञानी होते हैं। अतः हमारे श्रुत ज्ञान के प्रवाह मे उसको समझाने के तरीके विविधता से किये हैं। उसको सही समझने के लिए उस पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक है। सर्वज्ञत्व कैसा होता है, इसे अनुभव से ही जाना जाता है। लेखनी, बोली और अन्य साधन इसके सामने तुच्छ है। तुच्छ साधनो से अनन्त ज्ञान का और केवल मात्र ज्ञानमय आत्मा का वर्णन करना और समझना वर्तमान की मानव बुद्धि से परे की वस्तु है। आगम या मति-श्रुति ज्ञान भी इसे समझाने मे असमर्थ है। मेरे जैसा तुच्छ ज्ञानी सर्वज्ञत्व की हंसी ही उडा सकता है। यही अल्पज्ञो की नादानी का नमूना है। नादान बच्चा परिपक्व ज्ञान को ग्रहण नही कर सकता। इसी तरह पूर्ण ज्ञान, परम ज्ञान को साधारण विज्ञान नही समझ सकता और न पा सकता है। 'सर्वज्ञ' शब्द स्वय सर्वज्ञानी के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, इस शब्द की सार्थकता सर्वज्ञता मे ही है। तत्वज्ञ, आगमज्ञ और वेदज्ञ ये सभी औपचारिक सर्वज्ञ कहलाते हैं।

शालीन कार्य करते हुए तृप्त होकर अपना जीवन कार्य सम्पन्न करना चाहता है। यही से धर्म की उत्पत्ति हुई है। जीने की इच्छा से सहकार वृत्ति पैदा हुई और सहकार ने समाज का रूप धारण किया। समाज ने शांति और व्यवस्था हित उन्नति करने या जीवन के कार्य सम्पन्न करने हित जो नियम बनाये, वे ही धर्म रूप में परिवर्तित हो गये। अर्थात धर्म की उत्पत्ति जीने की भावना से होकर समाज के सहकार मय वातावरण से पुष्ट हुई।

धर्म समाज से पैदा हुआ और जीने की भावना से बीज रूप बना। इसीलिए महावीर ने उद्घोष किया—सब जीव जीना चाहते हैं, मरना सबको अप्रिय लगता है। सुख प्रिय और दु:ख अप्रिय लगता है। जैसा एक आत्मा मे जीव है वैसा दूसरी आत्मा मे भी है। जैसा सुख-दु:ख का अनुभव एक प्राणी को होता है वैसा या उससे कुछ हीनाधिक दूसरे प्राणी को भी होता है, ऐसा समझ हे भव्य। किसी जीव को मत सता, मत मार, मत किलामणा उपजाव और प्राणो से विरत मत कर, यही धर्म शाश्वत है और वीर द्वारा भाषित है। यही धर्म अनादि अनन्त प्रवाहमय है। जब से ब्रह्माण्ड मे चेतन तत्व है और जब तक रहेगा, धर्म प्रवाह बहता रहेगा और सहकारमय वातावरण बनता रहेगा।

वीर ने उद्घोष किया—चेतन को चेतन सत्ता की प्राप्ति करना परमावश्यक है। अत चेतन सदा श्रेय मार्ग को ग्रहण करे। प्रेय को छोडे। कल्याण मार्ग मे सदा जिजीविषा की भावना रहती है लेकिन सहकार के साथ, अपकार के साथ नही। 'कुर्वन्नोवेह कर्माणिजिजीवेत् शत समा" कर्तव्य कर्म करके जीना समीचीन बताया। इसके अलावा भी स्पष्ट किया कि तेनत्यक्तेन भुजीथा मागृद्ध कस्यचित् धनम्" समाज और समुदाय की वृत्ति मे यही सर्वप्रथम श्रेय मार्ग ग्रहणीय है कि जो मिला है, उसे सहयोग के लिए मान और ग्रहणीय

[वीर विभूति

श्रेयकारी लक्ष्य की प्राप्ति को कहा गया है। यह व्याख्या सर्वोपरि और सर्वधर्ममयी समाजोपयोगी हो सकती है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और परिस्थिति को लेकर भिन्न-भिन्न समाज समाजो की प्रवृत्तियां अथवा जीने की वृत्तिया दिख रही हैं, वे सामान्य तौर पर रहेगी। उन्हे हम सार्वदेशिक सार्वभौमिक और सार्वकालिक बनाने की इच्छा करते हैं या प्रचारित करते हैं तो वह रूढ बनकर पंथ का रूप धारण कर लेती हैं जिसे हम रिलीजन भी कह सकते हैं। इसे आजकल 'मानव धर्म' की संज्ञा भी देते हैं। धर्म के अनेक और अनन्त रूप हो सकते है और है। लेकिन यदि सबके श्रेय के लिए उनका व्यवहार हो, तो धर्म की वास्तविकता को पा जाते है अन्यथा धर्म से कुधर्म, अधर्म, पंथ, सम्प्रदाय, पार्टी अथवा भेद प्रवृत्तिमय मार्ग रह जाते है। वर्तमान मे ये ही मार्ग धर्म कहलाते है। ये समाज के लिए अहितकर है।

समाज मे समता का प्रचार, धर्म का प्रवर्तन है। विषमता का फैलना अधर्म का प्रवेश है। क्षेत्र, काल और परिस्थिति जन्य समाज की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाए ग्राह्य है। समाज को जिस समय, जिस क्षेत्र मे शांति और समग्र व्यवस्था के लिए जिस मार्ग का अवलम्बन लेना पड़ा या उस समय विशिष्ट आत्मज्ञ, समाज का अग्रणी, शांति का पुजारी अथवा पैगम्बर, तीर्थंकर और अवतार ने जो जो मार्ग बतलाये, वे मार्ग धर्म रूप कहलाये। जब वे मार्ग क्षेत्र और काल की परिधि को लांघ कर आगे बढ़ते हैं तो उनमें रूढ़ता का प्रवेश होकर, अभिग्रहरूप बन जाते हैं। अन्य क्षेत्रो और अन्य कालो मे उत्तम मार्गों को थोपते रहने मे वे मार्ग पंथ बन जाते हैं। पंथ पर अनुयायियो का मोह होता है। अनुयायियो को, पंथ प्रवर्तक उसे ही सत्य, तथ्य और श्रद्धा से स्वीकार्य बनाकर अन्ध श्रद्धालु बना देते हैं। यही ये धर्म, विषमता, युद्ध, विषाद और विग्रह पैदा कर समाज की शान्ति और व्यवस्था मे विघ्न रूप बन जाते है।

साक्षात्कार को भी दर्शन कहते है । सबल प्रतीति को भी दर्शन कहते है । सोचने की प्रक्रिया को भी दर्शन कहते हैं ।

सोचने की प्रक्रिया को लेकर आश्चर्य, सन्देह व्यवहार बुद्धि प्रयोग और आत्मिक प्रेरणा भी दर्शन की उत्पत्ति के कारण बनाये हैं। मानव जैसे विशेष ससज्ञक प्राणी को बुद्धि का बल भी विशेष मिला है तथा प्राण शक्तियां भी पूरी दस मिली है । सभी बल प्राणों से सामान्य की प्रतीति, दर्शन की क्रिया मानी जाती है और विशेष तर्क सम्मत प्रतीति, दर्शन का रूप वारण कर लेती है । इसी विशेष प्रतीति-विश्वास को क्षेत्र काल एव परिस्थिति के अनुसार बने हुए मार्गों ने भिन्न-भिन्न तरीके से ग्रहण किया है । अत. विचार सरणिया भी भिन्न-भिन्न है और उन पर विश्वास करने वाले वर्ग भी भिन्न-भिन्न हैं । इसी विभिन्न पद्धति से बने—साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, वेदान्त एव जैन दर्शन पुराने ऐतिहासिक दर्शन माने जाते हैं ।

सोचने की पद्धति यदि विस्तृत और हठाग्रही न हो, तो तत्व-दर्शन भी सार्वभौमता के लिए होगा । जगत और जीवो की समस्याए हल करने के लिए दर्शन की प्रक्रिया आवश्यक है—ऐसा मै मानता हूं। दर्शन की अनेक और अनन्त व्याख्याओ मे यही व्याख्या हितकारी है। मानव जैसा प्राणी यदि जिजीविषा की भावना रखता है अर्थात् जिजीविषा की भावना धर्म का कारण बनती है, तो उसी जिजीविषा से चिन्तना का भी उद्भव होता है । यही विचारणा और देखना दर्शन कहलाती है । मानव मस्तिष्क अपने जीवन के उपयोग की जगत् और स्वय के सम्बन्ध की खोज करने की आवश्यकता महसूस करने लगा तो उसमे से दर्शन की उत्पत्ति हुई वही दर्शन विभिन्न दृष्टियों—भिन्न-भिन्न विचार परम्पराओ मे परिवर्तित हो गया । ये सभी जीवन दृष्टिया हैं। इनका विश्लेषण जगत के तात्विक ज्ञान की परम्परा पर निर्भर करता है ।

वीर का दर्शन सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक है। वे सर्वदर्शी थे अतः उनका दर्शन भी पूर्ण है। आज उसे जैन दर्शन के नाम से पुकारते हैं लेकिन यह जैन दर्शन वीर के पूर्ण दर्शन का प्रदर्शन मात्र है। पूर्ण द्रष्टा भाषा द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। भाषा [illegible] सीमित है। दर्शन अनन्त है। भाषा वर्गणा द्वारा प्रकाशित दर्शन भी श्रवण एवं मस्तिष्क की इन्द्रियों से पूर्ण ग्रहण नहीं किया जा सकता। इन्द्रियों और मन से ग्रहण किये हुए दर्शन को लिपिबद्ध करने में भी पूर्णता नहीं आ सकती। कल्पनायें और विचार तरंगियाँ लिपि में पूर्णतया अंकित करना बहुत ही दुष्कर है। अतः केवल दर्शी वीर के दर्शन को सामान्य जन जीवन को व्यवस्थित करने के लिए जिस ढंग से कहा जाय उसके अनन्तवें अंश में आज जो भी विद्यमान है उसका वर्णन करना भी लेखक की बुद्धि की अक्षमता से दुष्कर है।

मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि दर्शन शब्द एक सामान्य आभास या सामान्य प्रतीति अथवा तत्त्व प्रतीति के लिए प्रयुक्त किया जाने का मानने पर भी दर्शन की अनन्तता स्वीकार्य है। अनेकान्त दृष्टि ही पूर्ण दृष्टि है। एकान्त दृष्टि खण्डित दृष्टि है। समष्टि का दर्शन अनेकान्त में ही सम्भव है। जिन जिन विशिष्टात्माओं ने जगत और जीव के विषय में अथवा चेतन और अचेतन के विषय में अपनी तर्क बुद्धि एवं आत्मिक विचारणा अथवा आत्म साक्षात्कार किये हैं वे सब अपने आप में पूर्ण हैं ऐसा सापेक्षतया मान लेना चाहिए। कोई भी दर्शनकार अपनी मान्यता को अधूरा नहीं बताता। तर्क से, दर्शन से, तथ्य से परे और श्रद्धा के लिए उपयुक्त बताता है। अब इस पर मिथ्या आत्म-विश्वास करना और स्वकीय [illegible] हठ को मिथ्या समझना है। फिर भी हम इस की तरह नहीं कहेंगे कि अपनी दृष्टि की सब विभिन्न व अन्य दृष्टियों की अन्य विचारणा के साथ तुलनात्मक ढंग से बुद्धि की विषमता का [illegible] स्पष्ट होना ही। अन्य विरुद्ध की निरपेक्षता पर भी अन्य दर्शन

कारो के साथ अध्ययन की विशालता अपनाई जानी चाहिये। यह भी एक समन्वय एव अनेकान्तता की ओर बढने का मार्ग है, जो पूर्ण जानकारी के लिए आवश्यक है।

मानव अपनी प्रज्ञा शक्ति से सीमा मे ही चिन्तन कर सकता है। अनन्त ब्रह्माण्ड के मानवो की चिन्तन शक्तियाँ भी अनन्त है। उन सभी चिन्तनाओ का मेल ही चिन्तना की अनन्तता का बोध कराता है।

धर्म और दर्शन सहवर्ती तत्व ज्ञान और प्रवृत्ति के सचारक है। धर्म और दर्शन को अलग-अलग मानने वाले विज्ञ पुरुष कभी भी अपने जीवन की वाञ्छित सिद्धि प्राप्त नही कर सकते। सर्वप्रथम दर्शन का ज्ञान होना चाहिये अथवा तात्विक ज्ञान के प्रति श्रद्धा होनी चाहिये अन्यथा सम्यक् दर्शन की उत्पत्ति नही होती। सम्यक् दर्शन और मिथ्या दर्शन ये दो आपसी विरोधी दर्शन हैं। लेकिन मिथ्या दर्शन से ही सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होती है। अत प्रथम नि सरणी मिथ्या दर्शन का उपयोग भी हेय नही है। तत्व ज्ञान रूपी हस सत्या सत्य का बोध करा देता है लेकिन किसी से घृणा अथवा किसी को हेय बनाकर अनादर करने की वृत्ति नही अपनाता है। यही अनेकान्त दर्शन की विशेषता है। अनेकान्त दर्शी सभी दर्शनो की उपयोगिता स्वीकार करता है। सभी दर्शनो को दृष्टि भिन्नता का रूप देकर पूर्णता की पूर्ति मानता है।

"विश्वतश्चक्षु" सर्वदर्शी वीर, सम्पूर्ण विश्व की दर्शन पद्धतियो के ज्ञाता हैं। उनकी दर्शनचर्या विश्व रूप है। अनन्त ब्रह्माण्ड रूप है। अनन्तता मे दर्शन का लाभ प्राप्त करना आत्म साक्षात्कार मे सम्भव है। जो विज्ञ पुरुष भय, विश्वास, जानने की इच्छा, आश्चर्य एव चिन्तना मात्र मे दर्शन की उत्पत्ति मानते हैं, उन्हे दर्शन की एक पक्षीय जानकारी है। पूर्ण दार्शनिक आत्मा साक्षात्कार मे ही बन सकता है। इन्द्रियो और मन से प्राप्त तत्व पूरी तरह से नही जाने जा सकते।

जगत् और जीव का पूर्ण ज्ञान करने के लिए तन्मय बन जाना परमावश्यक है। विश्वमय बनने के लिए विश्वमय शक्ति ही कामयाब हो सकती है। अतः मैं उद्घोष करता हूँ कि जिस तरह जीवन जीने की प्रबल इच्छा ने धर्म का मार्ग बनाया उसी तरह दर्शन का मार्ग भी उसी पूर्णात्म-विश्वात्म पुरुष अथवा परम पुरुष तीर्थंकर महावीर ने व्यक्त किया। अतएव धर्म की तरह दर्शन भी आत्म सिद्धि मोक्ष प्राप्ति में प्रधान उपयोगी है। दर्शन ज्ञान का प्रथम एवं पूर्ण चरण है। दर्शनात् ज्ञानसिद्धि। दर्शन के बिना सफलता असम्भव है।

तत्त्व दर्शन भी धर्म की तरह मुमुक्षु के लिए अत्यावश्यक है। यों कहा जाय तो कोई फर्क नहीं पड़ता कि धर्म और दर्शन सहभावी मानव की जिजीविषा की पूर्ति करने वाली पद्धतियां हैं। मानव विकास की ओर बढ़ता है तो उस विकास में गतिक्रम करने के लिए अपना और पराया चिन्तन आवश्यक हो जाता है। यदि हम अपनी विचारणा करेंगे तो अपने साथ योग देने वाले तत्त्वों का चिन्तन अपने आप सामने आ जायगी। इसी चिन्तना के प्राप्य रूप को हम दर्शन कहेंगे।

जीव क्या है? हमारे शरीर किससे बने हैं? यह दृश्यमान जगत क्या है? इसमें क्या क्या विद्यमान तत्त्व हैं जो हमें भी सक्रिय करते हैं? उनके स्वरूप क्या क्या हैं? इन तत्त्वों का हमारे साथ क्या सम्बन्ध है? लोक क्या है? आकाश क्या है? अलोक क्या है? हम यह सब आकाश आदि की प्रतीति करता है या मिथ्या भ्रम है? इन सब विचारणाओं का उत्तर दर्शन शास्त्र देता है। जीवन जीने की इच्छा से हम इस दृश्यमान जगत से जिज्ञासु हैं। यदि हम इन सब पदार्थों का ज्ञान नहीं कर सकेंगे तो जीवन जीने की इच्छा की पूर्ति नहीं हो सकती। जन्म लेते ही हम दृश्यमान वस्तुओं के दर्शन होते ही हैं और उन वस्तुओं की उपकारी जीवन जीने का आवश्यक खुराक है। इस खुराक में अनन्त शक्ति

वंचित नही रह सकती । अत दर्शन जगत् का ज्ञान वीर प्रभु ने अ
के सामने रखा ।

बहुत सारे विज्ञ, दर्शन शास्त्र को नीरस एव जीवन के लि
उपयोगी नही मानते, वे कहते हैं कि इस जानकारी के बिना भी
मानव, पशु पक्षी आदि प्राणी इस जगत् मे जीवन जीते ही है और
उनकी जीने की इच्छाओं की पूर्ति भी करते ही हैं । लेकिन एक बात
याद रखनी चाहिए कि चाहे कैसा भी अस्थिर एव कीट पतग से लेकर
पशु, पक्षी और मानव जैसा अज्ञ प्राणी हो उसके जीवन की प्रतीति है
और जीवन जीने की क्रिया मे उसके उपयोग मे आने वाली वस्तुओं का
ज्ञान अवश्य कर लेता है । खाने, पीने, सोने, चलने, बढने और फलित
होने मे इस तात्त्विक ज्ञान की परमावश्यकता है, जिसे इन्कार नहीं
किया जा सकता । मानव जैसे प्राणी की बुद्धि विशालता ने इसे समग्र
रूप से जानने की भूख पैदा की और इस ओर गति करते हुए आज
विश्व मे अनेक दर्शन विद्यमान है, जो पृथ्वी के प्रत्येक भूभाग मे
अपना प्रभाव फैलाये हुए है ।

संस्कृति

संस्कृति का सामान्य अर्थ संस्कार है । जीवन जीने की कला को
सस्कृति कहते है । सत्य शिव और सुन्दरम् की ओर प्रगति करने वाली
शुभकृति, सस्कारपूर्ण कार्य एव कलापूर्ण गति को सस्कृति कह सकते
हैं । जीव की जिजीविषा मे उत्पन्न कलात्मक सौम्य, एव सबको
आह्लाददायी विनोदपूर्ण सहभावी कृतिया सस्कृति है । स–सुन्दर करोति–इ
ति सस्कर अथवा संस्कार ऐसा कह सकते है । सस्कार से पूर्ण जो
कृतिया है, वे सस्कृतिया है । मानवो के सुख, विनोद एव रहन-सहन,
खान-पान, वेश-भूषा तथा कर्मो की प्रवृतिया सस्कृति कहलाती है ।
यथार्थ मे आत्मानुग शुभ एव सुखद प्रगति या परिणति को सस्कृति

दिया है। संयम को उभारने से युवक-युवतियां अधिक आकर्षित होती है और इस आर्थिक प्रगति के युग मे ऐसे प्रदर्शनो से धन कमाने का प्रधान लक्ष्य रहा है। ऐसे साधन संस्कृति को नया जन्म तो प्रदान देते हैं लेकिन संस्कृति मे विकृति भी भर देते है।

ऊपर की बातें मे वर्तमान लक्ष्य को लेकर लिख गया, वास्तविक स्थिति संस्कृति के मूल पाये पर जाने पर ही अंकित होगी। जिजीविषा की प्रगति ने धर्म और दर्शन का उद्भव किया और धर्म और दर्शन की समिश्रित गति से संस्कृति का जन्म हुआ। आचार, परिपाटियां और संस्कारो का जन्म, जीव और जगत के दर्शन एव धर्म प्रवर्तन से हुआ है। अत: कह सकते है कि संस्कृति आत्मानुग प्रवृत्ति है। समाज मे रहने वाले प्रत्येक प्राणी के लिए संस्कृति का अनुभव और अनुगमन परमावश्यक है। सामाजिक जीवन इसके विना शून्य होता है। समाज जो कुछ दीखता है वह सभी संस्कृति का ही रूप है। उठना, बैठना, सोना, पकाना, खाना, खेलना, नाचना, ध्यान करना, विनोद करना, तैरना, पढना, लिखना, उडना आदि जितने भी गत्यात्मक कार्य हैं तथा जिनका जीवन जीने मे उपयोग होता है वे सभी संस्कृति के चरण हैं। संस्कृति को समझने के लिए यह सब चाहिए। संस्कृति को परखने के लिए इनकी आवश्यकता है और संस्कृति मे जान लाने के लिए इनको गतिमान करना ही चाहिए।

वीर ने जाना और तीर्थ की स्थापना के साथ तीर्थ वर्तना मे संस्कृति का प्रचार प्रसार किया। उन्होने आत्म साक्षात्कार मे संस्कृति की पूर्णता मानी, परमज्ञान मे संस्कृति की उपादेयता स्वीकार की और जन-जीवन की व्यवस्था एव शांति मे इसकी विद्यमानता स्वीकार की। संस्कृति के बिना जीवन जीने को व्यर्थ माना। आनन्द और दिव्यानन्द का स्रोत संस्कृति मे माना।

संस्कृति धर्माचार एव जगदाचार रूप है। धर्माचारो और जगदाचारो को जितना शुद्ध, सुखद एव प्रेरणास्पद बनाये जायें उतनी

के आत्मोद्धार एव सुसस्कारित जीवनयापन मे प्रेरणादायी एव प्रगति कारक बनती रहेगी। वही सस्कृति श्रमण सस्कृति रूप मे वर्तमान मे जीवित है भविष्य मे भी अमरता प्राप्त करती रहेगी।

सस्कृति को अपनाने वाला मानव सस्कृत कहलाता है। जैसे परिमार्जित भाषा सस्कृत नाम से रूढ बन गई इसी तरह ब्राह्मण सस्कृति के धारक सस्कृत ब्राह्मण कहलाये तथा श्रमण सस्कृति को अपनाने वाले भी श्रमण-सस्कृत कहलाये। आज की सस्कृति मे जो भी पुरातन सस्कृति को अभिग्रह रूप से धारण कर चल रहे है वे सस्कृति का नाश कर रहे है। सस्कृति को कायम रखने का तरीका रक्षण करने से नही, उसको क्षेत्र और काल के अनुसार वर्धमान करते रहने से है। आज ब्राह्मणो ने यह सस्कृति रूढ बनाली कि कोई भी अपहृत स्त्री यदि अनार्य मुसलमान या क्रिश्चियन के पास उसकी सस्कृति को ग्रहण कर जीवन यापन करती है तो ब्राह्मण सस्कृति के उपासक उससे घृणा कर पतित सा व्यवहार कर लेते हैं। उसको कभी अपने समाज मे स्वीकार नही करते। यह सस्कृति का नाश का कार्य है। सस्कृति वही है, जो भूलो को भी अपने सहजीवी बनावे। सही सस्कृति का असर आज राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, युक्त प्रान्त तथा विहार मे विद्यमान है। जो श्रमण सस्कृति से उद्‌भवित हुआ और मास-मद्य भक्षण, वैश्यागमन, शिकार खेलने और चोरी करने के क्रियाशील व्यसन के भोगी वर्ग का लज्जावश सामने नही आना पूर्णतया दृष्टिगत हो रहा है। श्रमण सस्कृति का असर इन प्रान्तो मे प्रचुर मात्रा मे है जिससे व्यवहार मे बुरे कृत्य सन्मुख नही आते। कितना ही मास भक्षी मुसलमान और क्रिश्चियन, मदिरा पान कर्ता राजपूत या सिक्ख अथवा शिकार करने और चोरी करने वाला आदि-वासी समाज वर्तमान है लेकिन प्रत्यक्ष रूप से कभी लोको के सामने इसका प्रयोग नही होता है। श्रमण संस्कृति आज भी अछूतो को अपनाती है और वर्ग भेद से दूर रहती है। यद्यपि जैन कहलाने

दर्शन का परीक्षण स्थल सस्कृति है । धर्म के साथ दर्शन और सस्कृति का अन्योन्या-भाव एव परस्पराश्रित सम्बन्ध है । जहा धर्म व्यवहार मे आता है सस्कृति का तत्काल प्रादुर्भाव होता है । जहा दर्शन का परीक्षण होता है संस्कृति उपस्थित हो जाती है । मानवो के अतिरिक्त सूक्ष्म से सूक्ष्म पृथ्वी, अप, वायु, अग्नि एव वनस्पति तथा कीट, पतगे, पशु, पक्षी, जलचर, देव, दानव आदि सभी प्राणियो के जीवन मे सस्कृति के दर्शन होते है । जितने भी जीव है और जीने की इच्छा करते है उनको सस्कृति का अनुगमन करना पडता है । कलामय सवेदन एव प्रदर्शन सभी प्राणियो मे विद्यमान है ।

आकाश मे रहे हुए हुए ज्योतिष पिंडो मे भी सस्कृति के दर्शन होते हैं । प्रकृति मे कला के दर्शन स्वाभाविक रूप मे वर्तमान है । धर्म-दर्शन, तत्त्व-दर्शन और कला-दर्शन सस्कृति के रूप हैं । जीव और जड, प्रकृति और पुरुष तथा माया और ब्रह्म जहा सम्मिश्रित गति करते हैं वहा सस्कृति विद्यमान रहती है । धर्म के दर्शन होते है, और दर्शन स्वय जागृत रहता है । सारे विश्व की सरचना एक सस्कृति का विराट रूप है । विश्व की सस्कृति ही सस्कृति का विश्व रूप है । अनन्त ब्राह्मांडो की सस्कृति अनन्त है । धर्म अनन्त है । दर्शन अनन्त हैं और सस्कृति अनन्त है । मुक्तात्मा मे भी सभी अनन्त वर्तमान हैं ।

जो अनन्त धर्मी है, वह अनन्त दर्शी है और वही अनन्त सस्कृति रूप परमात्मा है । अनन्त धर्मो का, अनन्त दर्शनो का और अनन्त सस्कृतियो का सम्मिलन उसी विराट रूप मे दृष्टिगोचर होता है । विभिन्न धर्म मार्गो, विभिन्न राष्ट्रो, विभिन्न समाजो, विभिन्न प्राणियो और विभिन्न पृथ्वी पिंडो की सस्कृतिया भिन्न-भिन्न होते हुए भी विराट ब्रह्माण्ड स्वरूप मे समाविष्ट है । यही सभी की समन्विती है अत सिद्धात्मा अनन्त का परिष्कृत विराट रूप है ।

○○○

दर्शन-स्वरूप

अनेकांत सिद्धांत और अनेकांत दर्शन

अनेकांत सत्य सकल अनंत वाला दर्शन है। पूर्ण दृष्टि सकल दृष्टि व्यापक दृष्टि और अनंत दृष्टि पूर्णदर्शी सकलदर्शी विश्वदर्शी और अनन्तदर्शी में वर्तमान रहती है। जो पूर्णदर्शी हैं सकल दर्शी हैं केवल दर्शी हैं और अनन्तदर्शी हैं उन ऐसी दृष्टि वालों का दर्शन सिद्ध अनेकांत वाला-सत्य सिद्धांत कहलाता है। अनेकांत दर्शन या अनेकांत सिद्धांत वर्तमान जैन दर्शन का सही नाम है। जिन अनन्तदर्शी अनेकांत सिद्धांती और अनेकांतदर्शी होते हैं इस दृष्टि से उनका दर्शन कहलाता है। मैं इसीलिए कहता हूँ कि वीर का दर्शन अनेकांत दर्शन है—जैन दर्शन है। जैन दर्शन विश्व की सम्पूर्ण दृष्टियों और विश्व के सम्पूर्ण दर्शनों को हृदयंगम करके बना और सम्पूर्ण दर्शनों में अपना दर्शन करने वाला विश्व असीम अनन्त एवं पूर्ण दर्शन है।

सांख्य योग न्याय वैशेषिक बौद्ध और वेदांत दर्शनों के दार्शनिक तत्त्व एवं दर्शन जैन दर्शन के अंग मात्र हैं। जैन दर्शन की विभिन्न दृष्टियों के सहीकरण की जानकारी विचार सरणियाँ हैं। वस्तुतः ईश्वर अद्वैतवाद द्वैताद्वैत विशिष्टाद्वैत और द्वैताद्वैत आदि सम्प्रदाय या विचार सारे अनेकांत के ही अङ्ग हैं। अनेकांत सभी में वर्तमान है। जो सभी दर्शनों में विद्यमान है वहीं अनेकांत है। एक वस्तु को एकान्तदृष्टि, पूर्ण दृष्टि से देखने वाला अनेकांत और अनन्त

वस्तुओ को एक दृष्टि से, समान दृष्टि से देखने वाला भी अनेकात।
किसी से वाद-विवाद, वैर-विरोध तथा मत भेद नही कर समन्वय के
मार्ग को प्रशस्त करने वाला ही अनेकात है अतः उसका अन्त सिद्ध है।
उस पर वाद-विवाद करने की, तर्क-वितर्क करने की कोई गुन्जाइश
नही। जितने भी तर्क एवं वाद हैं उन सबको अनेकात स्वीकार करता
है। स्थान देता है और उन्हे अपने ही रूप मानता है। इसे ही विराट
दर्शन, विश्व दर्शन और जैन दर्शन भी कहते हैं। वीर का दर्शन उसी
विराट रूपमय है।

अनेकात की सफलता, व्यापकता और ग्राह्यता इसी मे निहित है
कि वह सभी विचार सरणियो, सभी आचार सरणियो और सभी
प्रचार सरणियो को स्वीकार करता है। अपनी मानता है और अपने मे
समायोजन करता है। क्या जीरो (पूर्ण) का एक ही रूप रह सकता
है। वह अनन्तमय है। अनेको पूर्ण मिल कर भी पूर्ण हैं और अनन्त
पूर्णों को निकालने पर भी पूर्ण ही है। अनन्त पूर्णों से गुणा करने
पर भी पूर्ण और अनन्त पूर्णों का भाग देने पर भी पूर्ण ही रहता है।
इसी तरह यह अनेकात अनन्तमय है। अनन्त स्वरूपमय है अत पूर्ण
है। परिपूर्ण है, सम्पूर्ण है और वाद नही, अपितु सिद्धात है। इसमे
किसी भी पक्ष, वाद, तर्क और अ श की कमी नही है।

अनेकात की सामान्य बुद्धिगम्य पद्धति स्याद्वाद

स्याद्वाद कथचिद्वाद कहलाता है। यह सम्पूर्ण वस्तु को अनेक
तरीकों से समझने की एक प्रणाली है, जो सीमित रूप मे पूर्ण है।
स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्याद् वक्तव्य, स्यादस्ति
अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य। इनको
सप्त भगी भी कहते हैं। एक वस्तु को समझने के सात तरीके हैं। सात
नाम है सात प्रणालिया है। एक ही द्रव्य सातो से परिवेष्टित है। जैसे एक

सारे हाथी के एक-एक अग को पकड कर स्पर्श करा ज्ञान दिया कि सभी वस्तुओ से मिलकर हाथी बना है। इस तरह के मिथ्याज्ञान रूपी दुराग्रह को व वाद-विवाद को मिटाने के लिए वीर जैसे पूर्णदर्शी महापुरुष ने स्याद्वाद रूप सम्यक् दृष्टि से स्पर्श करा पूर्णता का बोध करा शान्ति, समन्वय और प्रेम का संचार किया।

स्याद्वाद को कई विज्ञ पुरुषो और स्वय शकराचार्य जैसे जगद्गुरु ने संशयवाद तक कह दिया। वास्तव मे सशय तो शकाशील ज्ञान होता है। एक पक्षीयज्ञान, ज्ञान का एक अ श है, न कि शकास्पद ज्ञान। जितने भी हाथी को जानने वाले अ धे थे, वे शकाशील नही थे। वे तो जो-जो भाग स्पर्श कर जान पाये, उनके एकपक्षीय ज्ञान से ही हाथी का रूप ग्रहण कर रहे थे। जब सम्यक् ज्ञानी ने सर्वपक्षीय ज्ञान का बोध कराया तो पूर्ण ज्ञान हो गया। सशय और एकागी ज्ञान इन दोनो मे बडा अन्तर है। आज के युग मे यह स्पष्ट हो गया है कि सापेक्षिक ज्ञान या एकागी ज्ञान सशय ज्ञान नही है। रस्सा है या सर्प ? इस तरह का शकाशील ज्ञान संशयात्मक होता है। रस्से मे सर्प का ज्ञान ज्ञानाभास कहलाता है। कुज्ञान कहलाता है लेकिन सशयात्मक ज्ञान नही।

स्याद्वाद एक तरह का वाद है। एक तरह की समझने की प्रणाली है। जो पूर्ण है। चू कि एक ही पदार्थ मे अस्तित्व, नास्तित्व, अस्ति-नास्तित्व, अवक्तव्य और अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य तथा अस्तिनास्ति अवक्तव्य ऐसे सात भाग बन सकते है। सात से आठ नही। यह भी एक तरीका है और अपने आप मे पूर्ण है। स्याद्वाद की पद्धति का विवेचन बहुत लम्बा चौडा है लेकिन यहा सूक्ष्म रूप से रखन किया है। ऐसे सात भागो की तरह सख्य, असंख्य और अनन्त भागो मे भी विश्लेषात्मक ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। ये सीधे आत्म साक्षात्कार से होते हैं। इन पाचो ज्ञानो से जानकारी मिलती है अतः उपयोगी भी कहते है।

जगत् के जीव और जड तत्वो की लोक व्यवहार की दृष्टि से नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव नामक चार निक्षेपो से भी ज्ञान व्यवहार होता है। इसी तरह निर्देश स्वरूप बताना। स्वामित्व-मालिकपना बताना। साधन-कारण बताना। अधिकरण-आधार बताना। स्थिति-कार्य मर्यादा बताना और विधान-भेद-प्रकार बताना। ये भी जानकारी के तरीके हैं। वस्तु की जानकारी सत्-सत्ता, सख्या-गिनती, क्षेत्र-स्थान, स्पर्शन-सक्रमण क्षेत्र, काल-समय, अन्तर-विरह काल, भाव-अवस्था और अल्प बहुत्व के अनुयोगो द्वारा भी होती है।

पागलो की तरह असत्-विवेक से शून्य यदृच्छा ज्ञान होता है उसको मिथ्या ज्ञान-अज्ञान कहा है। ज्ञान के सामान्य भेदो के अवातर भेद भी बहुत है। मति ज्ञान के साधारणतया ४ भेद होते है। अवग्रह-उल्लेखनीय विशेपताओ से रहित सूक्ष्म अव्यक्त ज्ञान। ईहा-विशेपता सम्बन्धी विचारणा। अवाय-विशेष का निश्चय। धारणा-बहुत समय तक याद रखना। अव्यक्त पदार्थ का सिर्फ अवग्रह होता है। अवग्रह ज्ञान, मन और नेत्र से नही होता।

श्रुत ज्ञान के दो भेद होते हैं। श्रुत मतिज्ञान के साथ होता है। अ ग बाह्य अनेकानेक ग्रथादि रचनाए और सुनने योग्य ज्ञान होता है। अ ग प्रविष्ट के जैन दर्शन की मान्यतानुसार १२ भेद होते हैं। जिन्हे आचारागादि बारह अ ग कहते हैं। इन्हे ही द्वादशागी वाणी कहते हैं। बारहवा दृष्टिवाद लुप्त माना गया है।

अवधि ज्ञान भव प्रत्यय और क्षयोपशम से होता है। नारक और देवो का ज्ञान भव प्रत्यय और मानव तिर्यचो का ज्ञान क्षयोपशम से

है। इसी तरह प्रदेशार्थिक दृष्टि भी की जा सकती है जो द्रव्य के एकांश को ग्रहण करती है। द्रव्य की देश, काल आदि अनेक पर्याय हैं लेकिन प्रदेश तो स्वय द्रव्य के अंश माने जाते हैं। द्रव्य को सम्पूर्णतया जानना और द्रव्य को अंशात्मक जानना, यही दोनो मे अन्तर है। द्रव्यो की पर्यायो को देखना, यह पर्यायार्थिक दृष्टि है।

व्यावहारिक और नैश्चयिक दृष्टि

जो वस्तु जैसी प्रतिभासित होती है, उसी रूप मे वह सत्य है या किसी अन्य रूप मे। जैन दृष्टि प्रतिभासिक और पारमार्थिक दोनो दृष्टियों को स्थान देती है। इन्द्रियगम्य वस्तु का स्थूल रूप व्यवहार दृष्टि से यथार्थ है। वस्तु का सूक्ष्म रूप जो इन्द्रियगम्य नही है लेकिन यथार्थ है, केवल श्रुत या आत्म प्रत्यक्ष से जाना जाता है, वह निश्चय दृष्टि है। इन्द्रिय जनित व्यवहार दृष्टि और इन्द्रियातीत निश्चय नय दृष्टि दोनो का ज्ञान सम्यक् होता है। दोनो दृष्टिया सम्यक् हैं। एक वस्तु मे मधुरता प्रधान है तो व्यवहार दृष्टि मीठा बोलेगी लेकिन वास्तविक सभी प्रकार के रस से युक्त द्रव्य वस्तु है तो निश्चय दृष्टि से सभी रस ग्रहण होगे। मधुरता की प्रधानता से अन्य रस लुप्त नहीं होते हैं।

शब्द नय और अर्थ नय

नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजु सूत्र नय, अर्थ नय है। चूंकि ये नय अर्थ को विषय करते हैं। शब्द, समभिरूढ और भूत शब्द को विषय करते हैं अतः शब्द नय हैं। यो वचन के जितने मार्ग एवं भेद हैं वे सब नय के भेद हैं। जितने नय के भेद हैं, वे सभी मत हैं। इस दृष्टि से नय के अनन्त भेद हैं। "नैकगम नैगम" जो गुण व गुणी, जाति व जातिवान, क्रिया और कारक आदि मे भेद की विवक्षा करता है

कर्ता कारक को सम्प्रदान नही मानता, तारका को स्त्रीलिंग कहेगा और स्वाति को पुल्लिंग कहेगा। उपसर्गों के भेद से भी भिन्न अर्थ ग्रहण करेगा। अनेक प्रकार के शब्द जन्य प्रयोगो को उन्ही के रूपो मे ग्रहण करना शब्द नय का विषय है। व्युत्पत्ति भेद से अर्थ भेद ग्रहण करना, समभिरूढ नय का विषय है। इन्द्र, शक्र और पुरन्दर तीनो शब्दो की व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ ग्रहण करने वाला समभिरूढ नय है जैसे मनुष्यो के मालिक को नृपति और भूमि के मालिक को भूपति कहेगा। एवम्भूत नय इससे भी आगे बढ कर अर्थ प्रवृत विषय को ग्रहण करता है। राज करते हुए को राजा और विद्या ग्रहण करते समय के विद्यार्थी को विद्यार्थी कहेगा। अन्य समय के विद्यार्थी अर्थ को ग्रहण नहीं करेगा। यथा-अर्थं क्रियानुग-अर्थं मान्य एवम्भूत नय है।

इस तरह नयो का निरूपण ज्ञान ग्रहण के अनेक तरीको के रूप मे है और प्रथम नय से दूसरे नयो के विषय ग्रहण सीमित होते जाते है लेकिन पूर्व नय के विषय पर ही आगे के नय आधारित रहते है। सभी नय परस्पर सम्बन्धित विषयो के ज्ञान देने वाले एक दूसरे के पूरक है।

□□

भी नही पा सकता। शरीर को ही अचेतन तत्त्वो के पिण्ड को ही जीव समझता रहता है और व्यवहार करता है।

अचेतन सत्ता का सपूर्ण ब्रह्माण्ड पर प्रभाव जमा हुआ है। जब तक तक ससार है अचेतन तत्त्व का संसार मे प्रभाव जमा रहेगा। चेतन अनन्त शक्तिशाली है और अचेतन भी अनन्त शक्तिशील है लेकिन दोनो सम्मिश्रण सीमित गति एव शक्तिशील है। यही एक महान् आश्चर्य है कि जगत् का सारा खेल सीमित है और अनन्त मे समाहित है फिर भी इसका पार पाना मुश्किल है। जीव जब से जड मे मिलता रहता है अनन्त शक्तियो का आपसी सघर्षण होता है। कभी जीव तत्व अपनी शक्ति का प्रभाव जमाता है तो कभी जड जीव पर हावी होता है। यह खेल महान् आश्चर्य, विस्मय, आनन्द एवं अनुभूतिदायक है।

महान् प्रज्ञावान महात्मागण भी इस खेल के खिलौने है। यह खेल तब तक चला करता है जब तक दोनो अपने आप मे मुक्त नही हो जाते। दोनो का सम्बन्ध विच्छेद ही मुक्ति है और मुक्ति ही दोनो की परा-शक्ति, परमशक्ति, अनन्त शक्ति और पूर्ण शक्ति का दर्शन है। दोनो के साथ रहने पर दोनो ही अपने आप मे अपूर्ण रहते है। बिछुडते ही दोनों पूर्ण बन जाते हैं। यही महान् आश्चर्य है। ससारी जीवन जीने मे अजीव तत्त्व परमावश्यक है। इसके बिना भव-भ्रमण नहीं हो सकता। चार गति चौरासी लाख योनियो का परिचालन नही होता। जगत् का अस्तित्व नष्ट हो जाता है। जगत् के उन्नति एव अवनति के परचक्र बन नही पाते। जगत् की सम्पूर्ण रचना और विसर्जना दो तत्त्वो पर ही निर्भर है। अनन्त ब्रह्माण्ड इन्ही दो तत्त्वो का प्रदर्शन है।

कही कही सात तत्त्व और नव तत्त्व भी प्रतिपादित हुए है और उनका विशद वर्णन शास्त्रो मे है। नव तत्त्व एक पारिभाषिक नाम पड गया है। तत्त्व नव है ऐसा कहा जाता है। जीव तत्त्व स्वय अकेला है अजीव के ५ और ७ भेद माने गये है। या दोनों मे सम्बन्धित ५ और

७ य और है जीव अजीव पुण्य पाप आस्रव संवर निर्जरा बंध और मोक्ष। पुण्य और पाप आस्रव में समावेश माना है। शुभ पुण्यस्य अशुभ पापस्य। इस तरह आस्रव संवर बंध निर्जरा और मोक्ष ये सभी जीव आत्मा के भावों के अनुसार गति करते हैं। इन्हें स्वतन्त्र तत्त्व मानने में जीव और अजीव तत्त्वों की विवेचना को भली प्रकार से समझाने का ही उद्देश्य हो सकता है। स्वतन्त्र मानने से कोई विशेष उपलब्धि नहीं होती अपितु आत्मा और जड़ के साथ के सम्बन्धों का बनना और बिखरना रूप क्रिया के प्रतीक मात्र हैं।

जीव

जीव संसार में स्वतन्त्र सत्ता सम्पन्न स्वयं कर्ता भोक्ता ज्ञाता और अनन्त ज्ञान दर्शन चारित्र वाला तत्त्व है। इसे ब्रह्माण्ड का ब्रह्म कहते हैं। यह ही तत्त्व जो सर्वत्र व्याप्त है वह ब्रह्म अर्थात् जीव है। इस तत्त्व के बिना जगत् का जीवन नष्ट प्राय है। जगत की सजीवता इसी तत्त्व से है। इस तत्त्व का ज्ञान स्वयं जीवात्मा ने ही प्राप्त किया अतः इसे उपयोग लक्षण वाला माना। जो चेतनमय है ज्ञानमय है, उपयोगमय है वह जीव है। यह अनादि तत्त्व ५ स्वरूपमय है। औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक भावों से संयुक्त है। ये पांचों भाव जीव के स्वतत्त्व-स्वरूप हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये दो औपशमिक भाव के भेद हैं। केवल-ज्ञान केवल-दर्शन दान लाभ भोग उपभोग वीर्य क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ये नौ क्षायिक भाव हैं।

मति श्रुति अवधि और मनःपर्यय ज्ञान [illegible]

[illegible]

पुरुष, नपुंसकवेद, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असयम असिद्धत्व, कृष्ण, नील कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या इन औदायिक से २१ भेद हैं।

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये पारिणामिक भाव हैं। अस्तित्व नित्यत्व, प्रदेशत्व आदि पारिणामिक भाव भी इसी मे ग्राह्य हैं।

ससारी और मुक्त ये जीव के दो भेद है। ससारी जीव मन वाले और बिना मन वाले होते हैं और ससारी के त्रस और स्थावर ये दो भेद होते है। पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति ये स्थावर अर्थात् स्वय गति स स्थिरवान है। पराये सहयोग से चलने वाले भी माने जाते हैं। अग्नि और हवा को कुछ प्राज्ञ पुरुष त्रस मे गिनते है। सामान्यतया पृथ्वी, अप, वायु, अग्नि और वनस्पति स्थावर मे गिने जाते हैं। यही व्यवहार मे प्रचलित है। द्वीन्द्रिय कीड़ा आदि मुंह वाले, त्रीन्द्रिय खटमल आदि, चतुरिन्द्रिय मक्खी, भवरा आदि। पचेन्द्रिय मनुष्य तिर्यन्च वगैरह त्रस में समाहित होते है।

पांच इन्द्रियां होती है। स्पर्शना, रसना, कर्ण, चक्षु और घ्राण इन्द्रियां है। द्रव्येन्द्रिय एव भावेन्द्रिय रूप दो भेद है। "निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्" इसमे बाह्य आकृति निर्वृतीन्द्रिय और बाह्य एव आन्तरिक पौद्गलिक शक्ति विशेष उपकरण इन्द्रिय। इस तरह द्रव्येन्द्रिय भी दो तरह की होती है। लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। स्पर्शादि पांचो विषयो में इन्द्रियो का उपयोग होता है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये पांच विषय है। श्रुत ज्ञान अनिन्द्रिय-मन का विषय है। स्थावर जीवो के स्पर्श इन्द्रिय होती है। कीडा, चीटी, भ्रमर आदि जीवो मे क्रमशः एक एक इन्द्रिय विशेष होती है। द्विन्द्रिय के जीभ। त्रीन्द्रिय के स्पर्शना, जीभ और घ्राण और चक्षु ... भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय विशेष होती है। मन वाले जीवो ... और असंज्ञी ये दो भेद पचेन्द्रिय जीवो के असंज्ञीपना होता है।

नारकी और सम्मूर्छन नपुसक होते है। देव पुल्लिग होते हैं। मानव तीनों वेदी होते हैं। देव, नारक और चरम शरीरी उत्तम पुरुष और असख्यात वर्ष की आयु वाले युगलिये अनपवर्तनीय आयुष्य वाले होते हैं। उम्र पूरी भोगते हैं। बीच में आकस्मिक मृत्यु नही होती।

प्रत्येक आत्मा असख्यात प्रदेशी होती है। दीपक के समान शरीरानुसार प्रदेशों का आकुंचन और प्रसारण होता है। परस्पर सहयोग करना जीवो का धर्म है। जीवो का उत्पत्ति और विनाश रूप परिणमन पर्यायो का होता है। गुण और पर्याय, जीव द्रव्य के अक्षय अग हैं। स्व-स्वरूप मे चेतन रूप मे अवस्थित रहते हुए भी जीव परिणमनशील है। इसका यह परिणमन अनादि से है लेकिन योग और उपयोग रूप परिणमन सादि है।

जीवो को पर्याप्त एवं अपर्याप्त भेदो मे भी विभक्त किये जाते है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा, श्वाच्छोश्वास और मन। जो जीव छ पर्याप्तिया पूर्ण रूप से जीवन प्राप्त करने के लिए प्राप्त नही करता और एक या अनेक पर्याप्तिया पूर्ण करते रहने पर भी वह अपर्याप्तावस्था मे मरण वरण कर लेता है उसे अपर्याप्त कहते है। छः हों पर्याप्तिया पूर्ण प्राप्त कर लेता है वह पर्याप्त कहलाता है। सभी जीवो मे ये दो भेद वर्तमान है।

जीव तत्त्व स्वय अपनी शक्तिया विकसित करने के लिए गुणस्थान और मार्गणास्थान का अवलम्बन लेता है। इन क्रमिक एव सह भावी विकास मे योग देने मे लेश्या का बडा महत्त्व है। जीवो का कषायो से मुक्त होने तथा अष्ट कर्मों से बधन से छुटकारा पाने के लिए सयम रूप सवर और तप रूप निर्जरा का सत्कार भी वाछनीय है। अष्ट कर्मों मे बध प्राप्त कर उनके उदय की भोग वेला मे भी जीव पराधीन रहता है अतः अष्ट कर्मों का इनके साथ सबंध का विवेचना भी आवश्यक है इन सबका वर्णन अलग से किया जायगा।

इस तरह [illegible] निश्चय और व्यवहार [illegible] है। [illegible] गुण [illegible] का वर्णन है।

अजीव

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल [illegible] हैं। जो तत्त्वों में [illegible] अजीव तत्त्व माना है और इनको [illegible] अजीव द्रव्य [illegible] है। जीव और अजीव ये दो द्रव्य मूलभूत हैं। अजीव के उपादान [illegible] हैं और जीव और अजीव द्रव्य के परिवर्तन-पर्यायवर्तन [illegible] होने का अवसर का काम काल किया गया है। काल द्रव्य एक प्रकार का [illegible] पर्याय परिवर्तन है जो हमें [illegible] दिशा का भान कराता है और काय [illegible] देता है। काल जीव और अजीवात्मक है स्वतन्त्र द्रव्य है। अजीव के साथ उपरोक्त चारों द्रव्य गिन लिए गए हैं अतः अजीव के उपरोक्त चार भेद हुए। ये द्रव्य नित्य अवस्थित हैं। पूर्व के तीन अरूपी हैं। पुद्गल रूपी है। आकाश, धर्म और अधर्म ये एक-एक द्रव्य हैं। तीनों चलन रूप क्रिया से रहित हैं। धर्म और अधर्म असंख्यात प्रदेशी हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। पुद्गलों के संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। अणु के प्रदेश नहीं होते। तमाम द्रव्य लोकाकाश में हैं। धर्म और अधर्म सारे लोकाकाश में व्याप्त हैं। लोकाकाश के एक भाग में पुद्गल और असंख्यातवें भाग में जीवों का अवगाह है। अवकाश देना आकाश का गुण है। शरीर, वचन, मन, उच्छ्वास, निःश्वास यह पुद्गलों के उपकार हैं। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये पांच काल के उपकार हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाले पुद्गल होते हैं तथा शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, धूप, प्रकाश वाले भी हैं। पुद्गल परमाणु और स्कंध रूप से दो प्रकार के हैं। एकत्रित होना और टुकड़े होना तथा भेद और संघात दोनों के सम्मिश्रण से स्कंध पैदा होते हैं। स्कंध से जब प्रदेश

अलग हो जाता है, अणु कहलाता है। जो दृष्टिगोचर है वे पुद्गल भेद और सघात दोनो मे होते हैं। ये पुद्गल उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त हैं अतः सत् है। जो अपने मूल स्वभाव से नष्ट नही होता वही नित्य है।

पुद्गल पिण्ड या वध स्निग्ध और रुक्ष दोनो के मिलन से होता है। समान गुण वाले का वध नही होता। दो या दो से अधिक गुण वालो का ही बंध होता है। वध के समय सम और अधिक गुण, सम और हीन गुण को परिणमन करते है। पुद्गल जब स्कध रूप बनता है या वध रूप देश या प्रदेश बनता है तो उसमे सम और अधिक गुणो का या सम तथा हीन गुणो का होना आवश्यक है। पिण्ड रुक्ष एव स्निग्ध के मेल से बनता है जैसे पानी और धूल के मेल से ढेला बनता है। उसमे स्निग्धता के गुण अधिक हो या सम हो अथवा रुक्षता के गुण अधिक हो अथवा सम हो। सम और हीन तथा सम और अधिक गुण होना वध का कारण होता है। इस तरह अजीव द्रव्य भी गुण एव पर्याय से भिन्न नही है। गुण और पर्याय वाला ही द्रव्य होता है। कोई कोई आचार्य काल को भी अलग द्रव्य मानकर अजीव मे सम्मिलित करते है। अनन्त समय वाला काल है और यह सभी का राजा है।

द्रव्याश्रित हो, स्वय निर्गुण हो, वे गुण है। स्वरूप मे स्थिर रहते हुए भी उत्पाद और विनाश रूप परिणमन होना परिणाम है। यह परिणमन अनादि काल से है लेकिन अपेक्षा मे सादि भी है। रूपी द्रव्यो का परिणमन सादि है। आज का वैज्ञानिक युग धर्म और अधर्म को अलग तत्त्व रूप नही मानता फिर भी गतिशीलता को प्रेरणा देने वाला सक्रिय तत्त्व को स्वीकार करता है। इसी तरह स्थिरता पैदा करने मे सहयोग करने वाला अधर्म द्रव्य भी स्वीकार्य है। गति और स्थिति दोनो मे यदि समानता आ जाय या दोनो की प्रवृति मे असमानता आ जाय तो ससार का चक्र एक दम समाप्त हो जायगा। ठहरने हुए जीव या अजीव को जो

इन्द्रिय और पच्चीस क्रियाए ३९ भेद हैं। आस्रव जीव और अजीव दोनो के अधिकरण मे है।

जीव रूप अधिकरण क्रमश· सरंभ, समारभ और आरम्भ तीन प्रकार का। योग के भेद से तीन प्रकार का कृत कारित और अनुमत के भेद से तीन प्रकार का और कषाय के भेद से चार प्रकार का है।

अजीवाधिकरण निर्वर्तना, निक्षेप, सयोग और निसर्ग रूप हैं। जो क्रमश दो, चार, दो और तीन भेद वाला है।

ज्ञान और दर्शन के प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण कर्म के बध या आस्रव है।

निज आत्मा से परात्मा मे या दोनो मे विद्यमान दु ख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वाधा और परिवेदन ये असाता वेदनीय कर्म के बध हेतु हैं।

भूत अनुकम्पा, वृत्ति अनुकम्पा, दान, सराग सयम आदि योग, शाति और शौच ये साता वेदनीय कर्म के आस्रव है।

केवल ज्ञानी, श्रुत, सघ, धर्म और देव का अवर्णवाद दर्शन मोहनीय कर्म का वध हेतु है। आस्रव है। कषाय के उदय से होने वाला तीव्र आत्म परिणाम चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव है। वहुत आरम्भ और परिग्रह ये नरकायु के आस्रव है। माया तिर्यन्चायु का बध हेतु है। अल्पारम्भ, अल्प परिग्रह, स्वभाव की मृदुता और सरलता ये मनुष्यायु के वध हेतु हैं।

शील और व्रत रहित होना सभी आयु के आस्रव हैं। सराग संयम, सयमा सयम, अकाम निर्जरा और वालतप देवायु के आस्रव है।

योग की वक्रता और विसवाद ये अशुभ नाम कर्म के आस्रव हैं। इससे उल्टे शुभ नाम कर्म के आस्रव हैं।

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि, विनय, सपन्नता, शील और व्रतों मे अप्रमाद, ज्ञान मे सतत उपयोग, सतत सवेग, शक्ति के अनुसार त्याग

[और विशुद्धि

और सघ और साधु की समाधि तथा वैयावृत्य करना अरिहन्त आचार्य बहुश्रुत तथा प्रवचन की भक्ति करना आवश्यक क्रिया को सतत रहने मार्ग मार्ग की प्रभावना और प्रवचन वात्सल्य ये सब तीर्थकर नाम कर्म के आस्रव हैं।

पर निन्दा आत्म प्रशंसा दूसरों के सद्गुणों को छिपाना और दुर्गुणों को प्रकाशित करना ये नीच गोत्र के बंध हेतु हैं।

इनका आत्म निन्दा असद्गुण प्रकाशन असद्गुण गोपन नम्र वृत्ति और निरभिमानता उच्च गोत्र कर्म के आस्रव हैं।

दान लाभ, भोग उपभोग और वीर्य में अन्तराय डालना अन्तराय नाम कर्म के आस्रव हैं।

संवर

आस्रव निरोध संवर । आस्रव को रोकना संवर है। बंध हेतु मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग को रोकना संवर है। मन वचन काया की प्रवृत्तियों को रोकना और गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा परिषह जय और चारित्र की आराधना संवर है। तप से निर्जरा और संवर दोनों होते हैं। योगों का निग्रह गुप्ति है। सम्यक् निर्दोष ईर्या सम्यक् भाषा सम्यक् एषणा सम्यक् आदान निक्षेप और सम्यक् उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं। क्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य दस प्रकार के उत्तम धर्म हैं।

अनित्य अशरण संसार एकत्व अन्यत्व अशुचि आस्रव संवर निर्जरा लोक बोधि दुर्लभ और धर्म का स्वाख्यातत्व अनुचिन्तन अनुप्रेक्षा है।

धर्म मार्ग से च्युत न होने और कर्मों की निर्जरा के लिए सहन करने लायक जो कष्ट हैं वे परिषह हैं। क्षुधा तृष्णा शीत उष्ण

दंश मशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण, स्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परिषह हैं।

सूक्ष्म सपराय गुण स्थान एव छद्मस्थ वीतराग मे चौदह परिषह सम्भव है। जिन भगवान मे ग्यारह सम्भव हैं। बादर सम्पराय मे सभी परिषह सम्भव है। ज्ञानावरण से प्रज्ञा और अज्ञान परिषह होता है। दर्शन मोह और अन्तराय से क्रमशः अदर्शन और अलाभ परिषह होते है। चारित्र मोह से नग्नत्व, स्त्री, अरति, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार परिषह होते हैं। शेष परिषह वेदनीय कर्मोदय से हैं।

बंध

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स वन्ध"। कषाय–क्रोध, मान, माया और लोभ से जीव कर्म के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है, वह बध है।

बध के ४ भेद हैं —प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। प्रकृति बध ८ प्रकार का है। ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। ये आठो कर्म कहलाते हैं। इन आठो का बध प्रकृति रूप मे प्रकृतिबध होता है। ज्ञानावरणीय, प्रकृतिबध कर्म की ५ प्रकृतिया हैं—मतिज्ञानावरणीय, श्रुतिज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मन पर्याय ज्ञानावरणीय और केवल ज्ञानावरणीय।

जो प्रकृतिया आत्मा के ज्ञान गुण को ढाके, ज्ञान प्रकाश मे बाधा पहुचावे वे ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतिया कहलाती हैं, मति ज्ञान को ढाके वे मतिज्ञानावरणीय, श्रुत ज्ञान को ढाके श्रुतज्ञानावरण, अवधि ज्ञान को ढाके अवधि ज्ञानावरण, मनः पर्याय ज्ञान को ढाके मन·

पाँच ज्ञानावरण और केवल ज्ञान को रोके केवल ज्ञानावरण ।

जो प्रकृतियां आत्मा के दर्शन गुण को रोके वह दर्शनावरणीय प्रकृतियां कहलाती हैं। ये नव प्रकार की होती हैं—चक्षु दर्शन अचक्षु दर्शन अवधि दर्शन और केवल दर्शन के आवरण रूप चार और निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचला प्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पाँच। इस प्रकार ये दर्शनावरण नव प्रकृतियां हैं। जो प्रकृतियां सुख दुःख का वेदन—अनुभव करावें वे वेदनीयकर्म प्रकृतियां कहलाती हैं। साता और असाता दो वेदनीय हैं।

जो प्रकृतियां आत्मा के श्रद्धा और चारित्र गुण को रोके वे मोहनीयकर्म की प्रकृतियां हैं। मुख्य दो भेद—दर्शन मोह और चारित्र मोह। दर्शन मोह के तीन भेद—सम्यक्त्व मिथ्यात्व और मिश्र। चारित्र मोह के दो भेद—कषाय और नोकषाय। कषाय के चार भेद—क्रोध मान माया और लोभ। प्रत्येक के चार चार भेद—अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन। इस तरह कुल सोलह भेद हुए। नो कषाय के ९ भेद हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुरुष वेद नपुंसक वेद। कुल २८ प्रकृतियां हैं।

जिन कर्म प्रकृतियों से जीव जन्म की सीमित स्थिति में जीवन यापन करे अर्थात् जीव किसी भी शरीर धारण किया में जितने समय तक रहता है उसे आयुष्यकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं। देवायु नरकायु मनुष्यायु और तिर्यन्चायु।

जिन जिन कर्म प्रकृतियों से जीव अपने पहिचान दायरे में आवे या नाम धारण करे उस नामकर्म की प्रकृतियां कहते हैं :—

गति जाति शरीर अंगोपांग निर्माण बंधन संघात संस्थान संहनन स्पर्श रस गंध वर्ण आनुपूर्वी अगुरुलघु उपघात पराघात आतप उद्योत उच्छ्वास विहायोगति और प्रति पक्ष सहित प्रत्येक

शरीर आदि अर्थात् साधारण, प्रत्येक, स्थावर, त्रस, दुर्भग सुभग, दुस्वर, सुस्वर, अशुभ, शुभ, बादर सूक्ष्म, अपर्याप्त, पर्याप्त, अस्थिर, स्थिर, अनादेय, आदेय, अयश, यश एव तीर्थकरत्व ४२ प्रकृतिया है। जिन कर्म प्रकृतियो से जीव ऊच-नीच गोत्र का अनुभव करे गोत्रकर्म कहलाते है। दो प्रकृतिया है, ऊच और नीच।

जिन कर्म प्रकृतियो से दानादि मे विघ्न आवे उसे अन्तरायकर्म कहते हैं। इसकी ५ प्रकृतिया है—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय।

कर्मो के स्वभाव को प्रकृति बध कहते है और तीव्र और मन्द फलविपाक को अनुभाग बध कहते है और कर्म प्रकृतियो का आत्मा के साथ समय निर्देश, स्थिति बध कहलाता है तथा प्रदेश बध कर्म प्रकृतियो के अणुओ का आत्मा के साथ बधना प्रदेश बध कहलाता है। कर्म प्रकृतियो के भेद से स्वभावो का बोध हुआ। अब स्थिति का वर्णन निम्न प्रकार है :—

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटी कोटी सागरोपम की है और मोहनीय कर्म की स्थिति सित्तर कोटी कोटी सागरोपम की है। नाम और गोत्र की उत्कृष्ट बीस कोटी कोटी सागरोपम की स्थिति है आयुप कर्म की तेतीस सागरोपम की स्थिति है। वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त शेप पाच कर्मो की जघन्यास्थिति अन्त मुहूर्त है।

फलविपाक कर्मो के स्वभाव के अनुसार वेदन किया जाता है। वेदन करने या भोगने मे निर्जरा होती है। कर्म बध का तरीका यह है कि कर्म के कारण भूत सूक्ष्म, एक क्षेत्र को अवगाहना करके रहे हुए तथा अनन्तानन्त प्रदेशवाले पुद्गल योग विशेष से

इस प्रकार से सभी धाम प्रकृतियों से बंध को प्राप्त होते हैं अर्थात् बिल जाते हैं।

सातावेदनीय सम्यक्त्व मोहनीय हास्य रति पुरुष वेद शुभायु शुभ नाम शुभ गोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं शेष पाप प्रकृतियाँ हैं।

कर्मों का विवेचन जितना गहन है उतना ही उनके बंध की स्थिति समझना मुश्किल है। सत्ता उदय उदीरणा आदि कई प्रकारान्तरों में कर्मों का वर्गीकरण भी किया गया है। यह सभी प्रकार का ज्ञान छोटे से वर्णन में नहीं आ सकता।

निर्जरा

परिषह सहन करने और तपस्या करने से निर्जरा होती है। तपस्या कर्मों के नाश का प्रबल और अमोघ अस्त्र है। बाह्य और आभ्यान्तर दो प्रकार के तप होते हैं।

अनशन अवमौन्य वृत्ति संक्षेप रस परित्याग विविक्त शय्यासन एवं कायक्लेश ये बाह्य तप हैं।

अनशन–आहार (चारों प्रकार के अथवा जितने हो सकें) का त्याग अनशन है। आहार को कम करना अवमौन्य (उणोदरी) तप कहलाता है। जीवन की निर्वाह की चीजों को कम करना वृत्ति संक्षेप है। घी दूध दही तेल आदि रसात्मक अन्न का त्याग करना रस परित्याग कहलाता है। एकान्त स्थान में रहना विविक्त शय्यासन तप कहलाता है। काया को कष्ट देना लोच करना आदि अनेक प्रकार से शरीर को कष्ट देकर आत्म संयम को बढ़ाना काया क्लेश तप है।

ये छह तप शारीरिक शक्ति को ह्रास करने वाले होते हैं और प्रत्यक्ष दुःख का अनुभव कराने वाले होते हैं। इनमें अनशन नाम का प्रथम तप निर्धारित (अपनी इच्छानुसार एक दो दिन मास वर्ष पर्यन्त) समय तक भूखा रहना इत्वर तप और यावज्जीवन भूखों रहना

यावत्कथित तप कहलाता है। ये तप बाह्य हैं लेकिन इनसे शरीर के तपन से आभ्यान्तर तेज प्रकट होता है। इन्द्रियो और मन पर काबू हो जाता है। इन्द्रिया और मन ही बध के कारण हैं अत तप से कर्मों का नाश होता है।

अभ्यन्तर तप भी छ प्रकार के हैं :—

प्राश्चित—किये अपराध का पश्चाताप पूर्वक दण्ड लेना।
विनय—गुरुजनो के साथ नम्रता का व्यवहार करना।
वैयावृत्य—आचार्य, गुरुजन, दीन, दु खी, तपस्वी की सेवा करना वैयावृत्य है।
स्वाध्याय—स्वय अध्ययन करना और दूसरो को कराना।
ध्यान—धर्म और शुक्ल ध्यान को करना और आर्त और रौद्र ध्यान से विरत होना।
व्युत्सर्ग—गच्छ का त्याग कर जिनकल्प स्वीकार करना और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दुर्व्यवहारो का त्याग, मिथ्याज्ञान का त्याग भावोत्सर्ग है। आत्मा को शरीर से भिन्न समझ, वैसा ही वर्तन करना उत्सर्ग है।

मोक्ष

"कृत्स्न कर्मो क्षयो मोक्ष." । सपूर्ण कर्मो का क्षय मोक्ष है। मोक्ष जीव की एक अ तिम और अनन्तानन्दमय स्थिति है जहा से कभी जन्म, मरण और व्याधि से ग्रसित होने के लिए लोक भ्रमण के लिए नही आ सकता। अपराजेय शक्ति का स्तोक ही मोक्ष है। जीव तत्त्व की पूर्ण स्थिति को पा जाना ही मोक्ष है। पूर्णात्म बन जाना ही मोक्ष है। अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व निराबाध गुण आदि अनन्त गुणो की प्राप्ति ही मोक्ष है। जहा बंध हेतुओं का अभाव होता है अर्थात् आस्रव का निरोध होता है और पूर्व बधे हुए कर्मों का क्षय

ज्ञान प्राप्त होकर वह आत्मनिक शुद्ध अविरत स्थिति पैदा होती है
यही सिद्ध योग है।

वेद दर्शन—उपनिषद् और जैन ग्रन्थों की मान्यता है कि जब कर्मों का
पूर्ण क्षय होकर आत्मा अपने आप में शुद्ध बुद्ध हो जाती है तब जीव
ऊर्ध्व गति करता है और लोक के अग्र भाग में जाकर स्थिर
हो जाता है। वहां स्थिर हो जाता है। प्रकाश में प्रकाश मिल जाता
है। क्योंकि पूर्ण में लीन हो जाता है उस स्थान को भी मोक्ष कहते हैं।
ऊर्ध्व गति करने के चार कारण माने हैं—पूर्व प्रयोग कर्मों के संग का
अभाव कर्म बंधन का टूटना और मोक्ष गति के परिणाम ऊर्ध्व गति
कराते हैं।

इसमें एरण्ड बीज अग्निशिखा मिट्टी का तूम्बी से अलग होने से
पानी में दबा तूम्बा पानी के ऊपर आ जाने तथा शुद्ध जीव का निजी
ऊर्ध्व गति का स्वभाव होने से जीव ईश्वर बन जाने या मुक्त हो जाने
पर सीधा मोक्ष को चला जाता है। स्वभाव से एरण्ड का बीज ऊपर
उठता है भारी होने से नीचे गिरता है लेकिन गति ऊर्ध्व गमन की है
इसी तरह जीव पूर्णातम मय बन जाने पर स्वयं स्वभाव से ऊर्ध्व गति
करता है। अग्नि की शिखा बिना पूर्व या पश्चात् प्रयोग के सीधी ऊपर
उठती है। जल में डूबी हुई मिट्टी से भरी तूम्बी जस ही मिट्टी छूटती
जाती है ऊपर उठती जाती है उसी तरह जीवात्मा ज्यों-ज्यों कर्मों का
बंधन तोड़ता जाता है आगे बढ़ता जाता है। पूर्ण मिट्टी के हट जाने
पर ऊपर आ जाती है उसी तरह जीव ऊर्ध्व गति करता हुआ मोक्ष में
जाता है।

मुक्ति में जाने के लिए जन धर्म किसी प्रकार का ऊपरी बंधन
स्वीकार नहीं करता लेकिन भावों की विमलता से मानव किसी भी
जाति धर्म या क्षेत्र का हो मोक्ष प्राप्त कर सकता है ऐसा मानता है।
इसीलिए १५ प्रकार के सिद्ध स्वीकार किये हैं। तीर्थ सिद्ध अतीर्थ सिद्ध

तीर्थंकर सिद्ध, अतीर्थंकर सिद्ध, स्वयं बुद्ध सिद्ध, प्रत्येक बुद्ध सिद्ध, बुद्ध बोधित सिद्ध, स्वलिंग सिद्ध, अन्यलिंग सिद्ध, स्त्रीलिंग सिद्ध, पुरुषलिंग सिद्ध, नपुंसकलिंग सिद्ध, गृहस्थलिंग सिद्ध, एक सिद्ध और अनेक सिद्ध।

समन्वय

सर्वज्ञ-महावीर ने किसी भी एक अपेक्षा से देखी, सुनी और समझी वस्तु तथ्य को यथार्थ नही माना। उसका अनेक रूपमय जगत् व्यवहार को समन्वय कर सम्यग्मार्ग का अनुसरण करना ही स्वीकार किया है।

लोक व्यवहार मे पुरुषार्थ, भाग्य, भावी, परिस्थिति और काल को भिन्न-भिन्न मती अपने आप मे अलग और पूरा बलशाली मानते हैं। पुरुषार्थ का अनुयायी सदा पुरुषार्थ से ही कार्य सिद्धि मानता है यह स्वीकार करते हैं। अन्य कोई भी भाग्य, भावी, परिस्थिति, काल अपने आप मे सफल नही हो सकते। सोये हुए सिंह के मुंह मे कोई मृग नही पहुंचता। पुरुषार्थ से लक्ष्मी पा सकते है। पुरुषार्थ से ऊंचा पद पाते हैं। पुरुषार्थ से लब्धियां और सिद्धिया प्राप्त होती है। दुनिया के सारे कार्य पुरुषार्थ से सफल हुए और होगे। ऐसा पुरुषार्थवादियो का प्रबल तर्क है।

इसी तरह भाग्यवादी यही कहते हैं कि भाग्य मे लिखा जो होगा। पुरुष कितना ही पुरुषार्थ क्यो न करे। जब तक भाग्य जोरदार नहीं होगा, लक्ष्मी पा नही सकता, विजय वर नही हो सकता, मोक्ष और कार्य क्षेत्र मे प्रगति पा नही सकता। पुरुष कितना ही श्रम करे, मिलेगा वही जो भाग्य मे लिखा है। सूर्य और चन्द्र को ग्रह ग्रसित करते है, शंकर को जटा रमानी पड़ी, राम को सोने के मृग मे लुभाना पड़ा, रावण को राम ने मरना पड़ा आदि कई कार्य ऐसे हैं जो बड़े-बड़े भगवान्, ऋषि एवं आप्त पुरुषों को भाग्य के फल भोगाना पड़ता है। भाग्य सबसे प्रबल है। "भाग बिना मिलता नहीं भली वस्तु का योग"।

वैभवाणी। लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः। जो लिखा है वह भुगतना ही पड़ेगा। बिना भोगे छुटकारा नहीं। यह भाग्यवादी भाग्य को प्रबल मानकर सारी दुनिया के अन्य पुरुषार्थ भावी काल और परिस्थिति को बेकार मानते हैं।

तीसरा पक्ष भावी को प्रबल मानता है। जो होना होगा होकर रहेगा। इसमें भाग्य पुरुषार्थ परिस्थिति और काल कोई भी बाधक नहीं बन सकते—

यद्भावो न तद्भावो भावो चेन्नान्यथा।
इतिचिन्ता विषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते॥

दैनिक म चिन्ता पुरुषार्थ और अन्य तरह के संकटों को दूर करने के लिए भावी की मान्यता श्रेयस्कर है। जो होना है वह तो होकर ही रहेगा। क्या होगा? कहां होगा? और कब होगा? इन चिन्ता रूप विष को नाश करने की भावी एक औषधि है इस पीकर निश्चिन्त और निश्चिन्त बनकर जगत का रसास्वादन करना चाहिए। होनहार विरवान के होत चीकने पात चाहे जैसा बलवान हो या चाहे जैसा एकाकी हो होनहार चीकने पात की तरह होकर ही गुजरता है। भावी का कोई टाल नहीं सकता। सबसे बड़ी दलील यही है कि जो होता है वह प्रकृत है उसमें कृत्रिम प्रयोग—भाग्य पुरुषार्थ काल और परिस्थिति की क्या जरूरत है? इनका उपयोग भी व्यर्थ है।

चौथा पक्ष बोलता है सब कुछ करो। भाग्य भी फलने योग्य है पुरुषार्थ भी किया और भावी भी प्रबल है काल भी अनुकूल हो लेकिन परिस्थिति प्रतिकूल हो तो सभी काम बनते हुए भी नहीं बन पाते। परिस्थिति अनुकूल होने पर साधारण जन बादशाह बन सकता है। लक्ष्मीपति बन सकता है। परिस्थिति अनुकूल होने पर विद्या लाभ धन लाभ यश लाभ और पद लाभ मिल सकता है। परिस्थिति अनुकूलता से वांछित वस्तु की प्राप्ति और इष्ट की सिद्धि हो सकती है। जस

मक्का की उपज कराने मे मक्का का भावी उगने का है, भाग्य उगने लायक है, बोने का पुरुषार्थ किया गया है और वर्षाकाल भी अनुकूल है लेकिन मिट्टी, खाद तथा अन्य उत्पादक वस्तुओ की प्राप्ति की परिस्थितिया नही बन पाई तो उस मक्का की उपज नही हो सकती। एक छोटा बच्चा जिस परिस्थिति मे बडा होता है कालान्तर मे बडा होने पर वैसा ही बन जाता है। पशु और मानवीय वीर्य को अनुकूल परिस्थितियो मे रखकर नस्लें पैदा की जाती हैं अतः परिस्थिति सबसे प्रबल और साधक तत्त्व है।

इसी तरह काल की मान्यता है। काल के पक्ष वाले कहते हैं कि इस विश्व के जितने भी चल और अचल द्रव्य है वे सभी काल पर आश्रित है। काल से उत्पन्न होते है, बढते है, जीर्ण होते हैं और मरते हैं। हर एक वस्तु पैदा होती, जीर्ण होती और नष्ट होती है। सूर्य चन्द्र आदि ग्रह नक्षत्र तारे काल पर गमन करते हैं। इन्ही से काल की गिनती होती है। काल कवलित होने से किसी को कोई बचा नही सकता। बडी-बडी हस्तियो के भाग्य, भावी और पुरुषार्थ बल होते हैं। परिस्थितिया अनुकूल होती हैं लेकिन काल चंदजी विमुख है तो सभी धरा का धरा रह जाता है। एक बीज को उगाकर पुन बीज प्राप्त कराने मे उसका भाग्य, भावी, पुरुषार्थ और परिस्थितिया अनुकूल होने पर भी यदि काल उसके अनुकूल नही है तो उसकी प्राप्ति नही हो सकती। समय की अनुकूलता से ही धनवान, यशवान, पदवी वाला और सिद्धि वाला बनता है। कोई भी जीव या अजीव बिना काल के अपनी गति नही कर सकता। गति करना ही काल क्रम है। अतः विश्व काल मय है इसे सबसे प्रबल शक्तिशाली मानना पडेगा। यदि इसे सबसे प्रबल नही माना तो इसकी नाराजगी मे प्रलय और सहार का दृश्य देखना पडेगा। क्या ही अच्छा हो कि सही वस्तु को दुनिया के सारे विद्वान् स्वीकार करलें।

अपनी अपनी जगह ठीक हैं। लेकिन सब मिलकर श्रेयस्कर बन हैं। सबको मिलाने मे काल, क्षेत्र, और परिस्थिति की तुलना से पक्ष-विपक्ष को हटाकर सपक्ष को स्थिर कर सकते हैं। समन्वय का ही ठीक ढग से जमाना, रखना, निबहना और वर्तना है। जो जहा लिए अनुकूल हो उसको उसी जगह स्थिर कर चलना समन्वय प्रयोग है। इससे हठाग्रह, दुराग्रह, विपवाद, झगडा, द्वेष, कलह व नाश होकर प्रेम और व्यवस्था का जन्म होता है।

प्रत्येक राष्ट्र, जाति, मानव और धर्म के भेद एक दूसरे को समझने से दूर होते है। समझने के लिए निकट आना पडता है। निकट आने पर दृष्टि भिन्नता को दूर करना पडता है। एक दूसरा एक दूसरे की वस्तु स्थिति का ज्ञान, उसकी दृष्टि, वस्तु स्थिति और पक्ष से समझ सकता है। जब यह प्रयोग करने मे सफल होता है तो समन्वय का मार्ग प्रशस्त होता है। कुछ वह झुकता है कुछ दूसरा झुकता है और आपस मे मेल और प्रेम जम जाता है।

समन्वय की भूमिका का कार्य दृष्टि दोष को दूर करना है। विपक्ष को निकट से उसी की दृष्टि से देखना है। स्वपक्ष का हठाग्रह, दुराग्रह और प्रभुत्व को छोडना पडता है। अपना सो अच्छा यह पक्ष छोडे बिना समन्वय सर्जना सम्भव नही। इस भूमिका का विस्तार करना सर्वोदय मार्ग की ओर बढना है अर्थात् सर्वदर्शी बनना है। जो सर्वदर्शी होता है वह समन्वयी होता है। इसीलिए सर्वज्ञ वीर ने दृष्टि विशालता को महत्त्व दिया है। सकुचित दायरा, सकुचित दृष्टि एक पक्षीय होती है एक पक्षीय दृष्टि अशाति का कारण है अत विस्तृत दृष्टि समन्वय की भूमिका है।

विस्तृत दृष्टि के प्राप्त होने पर विस्तृत ज्ञान की अन्वेषणा होगी है जहा विस्तृत चक्षु है वहा सर्वज्ञ और सर्वदर्शीपना विद्यमान है। पूर्ण समन्वयी घृणा, द्वेष, ईर्षा और मत्सर से दूर रहता हुआ विश्व

[चार-चिन्तन

अपनी अपनी जगह ठीक हैं। लेकिन सब मिलकर श्रेयस्कर बन जाते है। सबको मिलाने मे काल, क्षेत्र, और परिस्थिति की तुलना से ही पक्ष-विपक्ष को हटाकर सपक्ष को स्थिर कर सकते हैं। समन्वय का अर्थ ही ठीक ढग से जमाना, रखना, निवहना और वर्तना है। जो जहा के लिए अनुकूल हो उसको उसी जगह स्थिर कर चलना समन्वय का प्रयोग है। इससे हठाग्रह, दुराग्रह, विपवाद, झगडा, द्वेष, कलह का नाश होकर प्रेम और व्यवस्था का जन्म होता है।

प्रत्येक राष्ट्र, जाति, मानव और धर्म के भेद एक दूसरे को समझने से दूर होते है। समझने के लिए निकट आना पडता है। निकट आने पर दृष्टि भिन्नता को दूर करना पडता है। एक दूसरा एक दूसरे की वस्तु स्थिति का ज्ञान, उसकी दृष्टि, वस्तु स्थिति और पक्ष से समझ सकता है। जब यह प्रयोग करने मे सफल होता है तो समन्वय का मार्ग प्रशस्त होता है। कुछ वह झुकता है कुछ दूसरा झुकता हे और आपस मे मेल और प्रेम जम जाता है।

समन्वय की भूमिका का कार्य दृष्टि दोप को दूर करना है। विपक्ष को निकट से उसी की दृष्टि से देखना है। स्वपक्ष का हठाग्रह, दुराग्रह और प्रभुत्व को छोडना पडता है। अपना सो अच्छा यह पक्ष छोडे बिना समन्वय सर्जना सम्भव नही। इस भूमिका का विस्तार करना सर्वोदय मार्ग की ओर बढना है अर्थात् सर्वदर्शी बनना है। जो सर्वदर्शी होता है वह समन्वयी होता है। इसीलिए सर्वज्ञ वीर ने दृष्टि विशालता को महत्व दिया है। संकुचित दायरा, संकुचित दृष्टि एक पक्षीय होती है एक पक्षीय दृष्टि अशान्ति का कारण है अत विस्तृत दृष्टि समन्वय की भूमिका है।

विस्तृत दृष्टि के प्राप्त होने पर विस्तृत ज्ञान की अन्वेषणा होती है जहा विस्तार चक्षु है वहा सर्वज्ञ और सर्वदर्शीपना विराजमान है। पूर्ण समन्वयी घृणा, द्वेष, ईर्षा और मत्सर से दूर [illegible] था विश्व

और

एकता विश्व राष्ट्रीय विश्व प्रमा और विश्वमयी बन जाता है। विश्व शान्ति में समन्वय अपनी प्रधान भूमिका अदा करता है।

समन्वय का पथ सम्यग्दृष्टि का प्रशस्त राज मार्ग है। जो समन्वयी होगा वह सम्यग्दृष्टा होगा जो सम्यग्दृष्टा होगा वह समन्वयी होगा। गद्य पद्य का अन्वय करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि शब्द इस तरह से रखें जावें जिनसे वाक्य की पूर्ति हो जाय। वाक्य के निर्माण में अन्वय उपयोगी होता है। पद्य में शब्द गीत की दृष्टि से इधर उधर रख दिए जाते हैं। भाषा एवं रचना के नियमों को पालना में पद्य रचना में वाक्य विशृंखल होते हैं उन्हें शृंखलित करने के लिए अन्वय किया की जाती है। और अन्वय जब सम्यक — सम्यक् शब्द का या सबके का रूप धारण कर लेता है तब समन्वय बन जाता है। सं+अन्वय= समन्वय। सम्यक + दृष्टि= सम्यग्दृष्टि। इस तरह उत्पत्ति का क्रम है या निर्माण क्रम है। इसी तरह जगत् की संरचना और सक्रमणता में विश्व संगीत का प्रवाह बहता रहता है। घटनात्मक जगत है। उस जगत् को और जगत के सभी क्रमों को सुव्यवस्थित करने समझने और बरतने के लिए अन्वय करना आवश्यक है। समन्वय करना आवश्यक है। नानाविध और अनन्त अशरीरी जीव और अजीव की क्रिया कलापों को सामञ्जस्य व्यवस्थित समझने और बनाने में समन्वय की बड़ी उपयोगिता है।

मन की घर की समाज की ग्राम की नगरी की राष्ट्र की विश्व की एवं अन्य सम्पूर्ण गुत्थियों को हल करने का सच्चा अच्छा और शुभ मार्ग समन्वय ही है। समन्वय शाश्वत और कल्याणकारी है। समन्वय सत्य और यथार्थ की भूमिका है। समन्वय विश्व का ब्रह्मा विष्णु और महेश है। समन्वय सब देवों का देव और सब दृष्टियों का द्रष्टा है। समन्वय स्वयं महावीर का दर्शन प्रशस्त मार्ग है जो विश्व को गतिमान करता हुआ सिद्धि का दाता है। अनेकान्त सिद्धान्त का है।

समाजोत्कर्ष के दश धर्म

सर्वज्ञ महावीर ने आत्मोत्कर्ष के साधक अनुकूल परिस्थितियो के उत्पादक विश्व व्यवस्था के परिचायक दश धर्मों की देशना दी।

१. ग्राम धर्म—ग्राम की सुव्यवस्था हो। ग्रामीण जन मिल कर रोटी-रोजी, मकान, वस्त्रादि की समुचित व्यवस्था कर सन्मार्ग गामी बने रहे, ऐसे धर्म का पालन करना ग्राम धर्म कहलाता है। ग्राम मानवो की आबादी की छोटी बस्ती होती है जहा कई परिवार एक साथ मकान बनाकर रहते हैं। कृषि आदि कर्म करते है। उनमे भ्रातृत्व भाव, सहयोग वृत्ति, सदाचार, शिष्टाचार, अचौर्य, शील, त्याग और निर्भाव वृत्तियो का निवास होना आवश्यक है। ये वृत्तिया ही ग्राम धर्म के अग हैं। ग्रामवासी अपने चुनिन्दा पचो से ग्राम की सुरक्षा एव न्याय व्यवस्था कराते है। सुख दु:ख मे समान भाव से वर्तते है। ये सब ग्राम धर्म के अग है। इस धर्म से आत्म साधनो का भी उत्कर्ष होता है। ग्राम का प्रत्येक मानव, स्त्री, बाल-बच्चे ग्राम के और अपने-अपने समाज के उत्कर्ष के लिए शालाए चलाते हैं। खेल व्यायाम की व्यवस्थाए करते हैं। व्यापार, कृषि, गृह उद्योग आदि की व्यवस्था करते हैं।

२ नगर धर्म—शहरी बस्ती की व्यवस्था के लिए जो नियम बनाये जाते हैं उन्हे पालना नगर धर्म कहलाता है। नगरपालिका के नियम, नगर विकास सकाय के नियम, नगर रक्षा के नियम और आवागमन (यात्रा) तथा व्यापार आदि के नियमो को पालना नगर धर्म मे आतो है। शेष ग्राम धर्म के सभी नियम नगर धर्म मे सन्निहित हैं ही। नगर के वे नियम जो मानव कल्याण के लिए अहितकर है। पशुहत्या-

इसलिए बनाना शराब की दुकानें चलाना वेश्यावृत्य कराना ये प्रवृत्ति नगर धर्म से विपरीत हैं। सबकी व्यवस्था सबका पोषण और समान वितरण समान न्याय यही नगर धर्म का मूल उद्देश्य है। नगर के नागरिक और ग्राम के ग्रामीण। नगर की उच्च शिक्षा तथा नगर की धन सम्पत्ति के प्रभाव से नागरिक अपने को सभ्य कहें और ग्रामीणों को जंगली कहें। मस्तिष्क के बल से ग्रामीणों को लूट कर धनिक बनें। उद्योगों से ग्रामीणों के धन का हरण करें ये कार्य नगर धर्म के विपरीत हैं।

३ राष्ट्र धर्म—ग्राम एवं नगरों से राष्ट्र का निर्माण होता है। राष्ट्र के नियम ग्राम और नगरों को पालने आवश्यक हैं। ग्राम की सीमा छोटी आबादी छोटी। नगर की सीमा बड़ी आबादी बड़ी। इन दोनों की सीमा जैसे अनेक ग्राम नगरों के कार्यक्षेत्र की भूमिया जिस बड़ी सीमा में सीमित हों उसे राष्ट्र कहते हैं देश कहते हैं। विश्व के अनेक खण्डों की अलग अलग व्यवस्था हित देश का निर्माण हुआ है। देश की सुरक्षा व्यवस्था शान्ति उन्नति और सुदृढ़ता के लिए जो नियम देश की लोकसभा बनाये उन्हें पालना राष्ट्र धर्म कहलाता है। राष्ट्र धर्म से राष्ट्रीयता आती है। राष्ट्र के अनेक प्रान्त होते हैं। उनकी व्यवस्था राष्ट्र की राजधानी से होती है। कर चोरी करना दूर देश से चोरी से माल लाना डाका डालना अधिक धन संग्रह करना गरीबों को धोखा देना रिश्वत लेना धन के लोभ से दुराचार अत्याचार और अनय करना अपने देश की गोपनीयता को दूसरे देशों में फैलाना आदि दुष्कृत्य राष्ट्रधर्म से विपरीत हैं। एक वेश एक शिक्षा एक भजन और एकता का प्रचार राष्ट्र धर्म के प्रमुख अंग हैं।

४ पाखण्ड धर्म—व्रत धर्म भी कहते हैं। जो अपनी आत्मा और पराये सामाजिक प्राणियों के लिये हितकर हैं ऐसे नियम धारण करना व्रत धर्म कहलाता है। जब ग्राम नगर और राष्ट्र धर्म का समुचित पालन होता है तभी व्रत धर्म का प्रचार सुलभ है। धैर्य क्षमा दया

आदि व्रत हैं। समाज मे परस्पर निवहने के लिए उपकारादि कृत्य और त्यागादि व्रत आवश्यक है।

५ कुल धर्म—अपने कुल के आचार और नियमो का पालन करना कुलाचार या कुल धर्म कहलाता है। कुल का अर्थ मानव जाति के अनेक वर्ग मे से एक वर्ग को कुल कहते है। उनके अपने-अपने नियम होते है। उनके पालन के विना कुल का उत्कर्ष नही होता। पूर्वजो के नियम व्रत को यथानुरूप विकसित करना कुल धर्म का कार्य है। जैसे—क्षत्रिय कुल का धर्म प्राणो को त्याग कर भी देश की रक्षा करना।

६ गण धर्म—अनेक राष्ट्रो का सम्मिलित एक गण होता है। उसके द्वारा राष्ट्रो का सम्यक् सचालन होता है। ऐसे गण के धर्म को गण-धर्म कहते है। जो-जो नियम सभी राष्ट्र मिलकर गण हित निर्माण करते है। उसके सचालन कार्य मे उन नियमो का पालना अत्यावश्यक है। गण-धर्म एक शासन की अपेक्षा—एक राजा के राज्य की अपेक्षा अधिक सुदृढ सुशक्त सुव्यवस्थित एव सभी सम्मिलित राष्ट्रो के लिए कल्याण-कारी होता है। गण नियमो की पालना भी धर्म मे आती है।

७ सघ धर्म—अनेक गण राज्यो का मिलकर एक सघ बनता है अथवा मानवो द्वारा भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओ को समुचित रूप से चलाने के लिए सघो का निर्माण किया जाता है। जैसे—बाल विकास सघ, छात्र सघ, युवा सघ, मजदूर सघ, साधु सघ, व्यापार सघ, उद्योग सघ, सेवक सघ, जैन सघ आदि। गण-राज्यो के मिल कर बने सघ के नियमो और अलग कार्यो, समाजो, धर्मो के बने सघो के नियमो का समुचित रूप से पालन करना; विपरीत आचरण नही करना, विपरीत प्रचार नही करना सघ धर्म है। विश्व राष्ट्र सघ और विश्व धर्म सघ का निर्माण भी इसी सघ धर्म मे आता है।

८. सूत्र धर्म—ग्रन्थ, शास्त्र, श्रव्य, दृश्य एव स्पृश्य ज्ञान, दान दाता वस्तुए, उपकरण एव मानवो की सुरक्षा व्यवस्था एव प्रचार हित जो-जो नियम बनाये जाय उनकी पालना सूत्र धर्म कहलाता है।

९. चारित्र धर्म—चारित्र धर्म की वृत्तियों का संचालन या नियमन और चारित्र धर्म के प्रचारक एवं उन्नायक आचार्य द्वारा धार्मिक और सामाजिक तथा नैतिक जीवन व्यवस्था को जो जो नियम बनाए गए उनका पालन चारित्र धर्म है। आचार और अनाचार का ज्ञान भी चारित्र धर्म कहलाता है आत्मशोधन के लिए आवश्यक है।

१०. अस्तिकाय धर्म—पंचास्तिकाय—जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश ये अस्तिकाय हैं लेकिन प्रमुख रूप से धर्मास्तिकाय द्रव्य गतिसहायक है उसे ही धर्म की संज्ञा दी गई है। विश्व के सभी द्रव्यों के संचालन एवं पर्यायों के प्रवर्तन में सहयोगी होने से जीव के बिना यह धर्म चलता है।

दसों धर्मों की व्यवस्था करने वाले स्थविर भी बताये हैं —

१ ग्राम स्थविर—सरपंच ग्राम मुखिया, पटेल गमेती और पटवा कहलाता है। ग्राम धर्म पालन का जिम्मेदार व्यक्ति है।

२ नगर स्थविर—नगराध्यक्ष नगर पालक नगर नेता आदि नाम से प्रख्यात है। नगर धर्म का चलाने वाला है।

३ राष्ट्र स्थविर— राष्ट्रपति सम्राट राष्ट्राध्यक्ष आदि नामों से पुकारा जाता है। जिसे राष्ट्र की जनता चुन कर इस पद पर बिठाती है।

४ प्रशास्ता स्थविर—शिक्षक या धर्मोपदेष्टा प्रशास्ता स्थविर कहलाता है। विभिन्न प्रकार की शिक्षाएं और धर्म शिक्षाएं जिन जिन धर्म नेताओं के संरक्षण में दी जाती है उन्हें प्रशास्ता स्थविर कहते हैं।

५. कुल स्थविर—समाज वंश या परम्परानुसार बनी पार्टी का मुखिया कुल स्थविर कहलाता है। गुरुकुल का धर्म संघ में साधुओं के कुल का प्रधान पुरुष भी कुल स्थविर है।

आदि व्रत हैं। समाज मे परस्पर निबहने के लिए उपकारादि कृत्य और त्यागादि व्रत आवश्यक है।

५ कुल धर्म—अपने कुल के आचार और नियमो का पालन करना कुलाचार या कुल धर्म कहलाता है। कुल का अर्थ मानव जाति के अनेक वर्ग मे से एक वर्ग को कुल कहते हैं। उनके अपने-अपने नियम होते है। उनके पालन के बिना कुल का उत्कर्ष नही होता। पूर्वजो के नियम व्रत को यथानुरूप विकसित करना कुल धर्म का कार्य है। जैसे—क्षत्रिय कुल का धर्म प्राणो को त्याग कर भी देश की रक्षा करना।

६ गण धर्म—अनेक राष्ट्रो का सम्मिलित एक गण होता है। उसके द्वारा राष्ट्रो का सम्यक् सचालन होता है। ऐसे गण के धर्म को गण-धर्म कहते है। जो-जो नियम सभी राष्ट्र मिलकर गण हित निर्माण करते है। उसके सचालन कार्य मे उन नियमो का पालना अत्यावश्यक है। गण-धर्म एक शासन की अपेक्षा—एक राजा के राज्य की अपेक्षा अधिक सुदृढ सुशक्त सुव्यवस्थित एव सभी सम्मिलित राष्ट्रो के लिए कल्याणकारी होता है। गण नियमो की पालना भी धर्म मे आती है।

७ संघ धर्म—अनेक गण राज्यो का मिलकर एक सघ बनता है अथवा मानवो द्वारा भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओ को समुचित रूप से चलाने के लिए सघो का निर्माण किया जाता है। जैसे—बाल विकास सघ, छात्र सघ, युवा सघ, मजदूर सघ, साधु सघ, व्यापार सघ, उद्योग सघ, सेवक सघ, जैन सघ आदि। गण-राज्यो के मिल कर बने सघ के नियमो और अलग कार्यो, समाजो, धर्मो के बने सघो के नियमो का समुचित रूप से पालन करना, विपरीत आचरण नही करना, विपरीत प्रचार नही करना सघ धर्म है। विश्व राष्ट्र सघ और विश्व धर्म सघ का निर्माण भी इसी सघ धर्म मे आता है।

८. सूत्र धर्म—ग्रन्थ, शास्त्र, श्रव्य, दृश्य एव स्पृश्य ज्ञान, दान दाता वस्तुए, उपकरण एव मानवो की सुरक्षा व्यवस्था एव प्रचार हित जो-जो नियम बनाये जाय उनकी पालना सूत्र धर्म कहलाता है।

९ चारित्र धर्म—चारित्र पालने की नीतियों का संरक्षण या प्रसार और चारित्र धर्म के प्रचारक अनुशास्ता आचार्य द्वारा प्रात्मिक और समाधिक तथा सामिक शांति व्यवस्था को जो जो नियम बनाय गये उनको पालना चारित्र धर्म है । आगार और अणगार धर्म की पालना भी चारित्र धर्म कहलाता है समाजोत्कर्ष के लिए आवश्यक है ।

१० अस्तिकाय धर्म—पंचास्तिकाय—जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश ये अस्तिकाय हैं लेकिन प्रमुख रूप में धर्मास्तिकाय द्रव्य जो गतिशील है उसे ही धर्म की सज्ञा दी गई है । विश्व के सभी द्रव्यों को सचालन एव पर्यायों के प्रवर्तन में सहयोगी होने से जीव के बिना यह धर्म पालता है ।

दसों धर्मों की व्यवस्था करने वाले दशस्थवीर भी बनाये हैं —

१ ग्राम स्थवीर—सरपच ग्राम मुखिया पटेल गमेती और अगवा कहलाता है । ग्राम धर्म पालन का जिम्मेदार व्यक्ति है ।

२ नगर स्थवीर—नगराध्यक्ष नगर पालक नगर नेता आदि नाम से प्रख्यात है । नगर धर्म का चलाने वाला है ।

३ राष्ट्र स्थवीर—राष्ट्रपति सम्राट राष्ट्राध्यक्ष आदि नामों से पुकारा जाता है । जिसे राष्ट्र की जनता चुन कर इस पद पर बिठाती है ।

४ प्रशास्ता स्थवीर—शिक्षक या धर्मोपदेष्टा प्रशास्ता स्थवीर कहलाता है । विभिन्न प्रकार की शिक्षाएं और धर्म शिक्षाएं जिन जैन धर्म नेताओं के संरक्षण में दी जानी है उन्हें प्रशास्ता स्थवीर कहते हैं ।

५ कुल स्थवीर—समाज वंश या परम्परानुसार बनी पार्टी का मुखिया कुल स्थवीर कहलाता है । गुरुकुल का धर्म पक्ष में साधुओं के कुल का प्रधान पुरुष भी कुल स्थवीर है ।

६. गण स्थवीर—राष्ट्रो के समूह रूप सघ का नेता गण स्थवी कहलाता है। धर्म के प्रचार करने वाले और पालने वाले साधुओ के गण को स्थवीर गणी कहाते हैं।

७. संघ स्थवीर—विश्व सघ का अध्यक्ष सघ स्थवीर कहलाता है। धर्म सघ का स्थवीर तीर्थंकर या प्रवर्तक अथवा आचार्य कहलाता है। यो अलग-अलग सगठनो के अध्यक्ष भी सघ स्थवीर हैं।

८. जाति स्थवीर—भील, महाजन, मुसलमान, इसाई आदि जातियो के मुखियाओ को जाति स्थवीर कहते हैं। वृद्धात्मा को भी स्थवीर कहते है।

९. सूत्र स्थवीर—सूत्र-स्थवीर ज्ञान का धनी कहलाता है। वेदार्थी, सूत्रार्थी, बहुश्रुत, केवली सूत्र-स्थवीर हैं। कालानुसार विशेष विद्वान् को भी सूत्र स्थवीर कहते हैं।

१०. पर्याय स्थवीर—जिसको जगत् तत्त्वो का सपूर्ण ज्ञान अपनी शरीर पर्याय मे मस्तिष्क को मिल गया हो वह पर्याय स्थवीर है। वह यथा ज्ञान परिचर्या का अनुपालक भी होता है।

आत्मोत्कर्ष के दस धर्म

मुमुक्षुजनों की आत्मा के उत्थान के लिये धारणीय दस कर्तव्य निरूपते हैं।

१ क्षमा—सहिष्णुता का दूसरा नाम क्षमा है। क्षमा वीरस्य भूषणम् क्षमा वीर पुरुष का आभूषण है। क्रूर दुर्बल और आततायी विरल क्षमावान होते हैं। जिसमें पौरुष है वही क्षमाशील बन सकता है। दूसरों द्वारा दिये गये उपसर्ग आधि व्याधि उपाधि कष्ट संताप अपमान आदि को शांतिपूर्वक बिना द्वेष भाव के सहन करना क्षमा है। अपने विरोधी आततायी और क्रूर प्रतिद्वन्द्वी युद्धार्थी को उसके पराजित होने पर माफी देकर वैर को शांत करना भी क्षमा है। जाने अनजाने किसी को कष्ट संताप आदि पहुंचाने से जो अन्य जीवों को परिताप या प्राणातिपात होता है उसस आत्म पश्चाताप पूर्वक क्षमायाचना करना और उसकी आत्मा से वैर जागृति दूर करना भी क्षमा है। क्षमा सबसे बड़ा और प्रथम धर्म है। आत्मिक उत्कर्ष का प्रथम सोपान क्षमा है। इसका विशद वर्णन आगम शास्त्रों में पढ़ना चाहिए। क्रोध शांत करना क्षमा का लक्षण है।

२ मार्दव—मान के मूल से जो आत्मा अभिभूत नहीं होती वह मार्दव गुण सम्पन्न होती है। नम्रता का दूसरा नाम मार्दव है। ज्ञानवान रूपवान धनवान बलवान आदि प्राणी भी यदि अपने मद को भूल कर नम्र बनते हैं तो वे मार्दव आत्मा होते हैं।

३ आर्जव—सरलता का दूसरा नाम आर्जव है। छल कपट एवं

धोखेबाजी से दूर रहना आर्जवता है। माया नामक कषाय को जीतने से यह धर्म आता है।

४ सत्य—यथार्थता को सत्य कहते है। यथार्थ बोलना और आचरण करना सत्य धर्म को धारण करना है। जैसा देखा, सुना और समझा उसको उसी रूप कहना और आचरना सत्य है। 'त सच्च भगव' सत्य स्वय ईश्वर-ऐश्वर्यवान है। जहा सत्य है वहा विजय है। 'सत्यमेव जयते'। यह आत्मा का शाश्वत धर्म है। प्रकट होने के बाद अनन्त काल तक स्थाई रहता है। आत्मानन्द एव आत्म बल को प्राप्त करने का उत्तम आचरण सत्य है। एक झूठ को छिपाने के लिए अनेक झूठ गढने पडते है, अनेक प्रपच रचने पडते है। सत्य, स्वयं प्रकाश से चमकता है। उसमे प्रपच का स्थान ही नही। सत्य स्वय अपने आप मे पूर्ण होता है।

५. शौच—चौथे कषाय लोभ को त्यागना, पवित्र बनना है, लोभ पाप का बाप है। लोभ सब पापो का मूल है। लोभ से—परिग्रह वृत्ति से सभी दुर्गुण—सभी अधर्म स्थान पा जाते है। अत' पवित्रता रूपी शौच धर्म का धारण करने वाला आत्मा स्वय शुद्ध-बुद्ध बन जाता है। समता—समानता एक ऐसा धर्म है जो सारे ससार मे शाति और व्यवस्था की प्रतिष्ठा कराता है। हिंसा, झूठ, चोरी, मिथुन, परिग्रह आदि दुर्गुणो को हरण कर समानता का व्यवहार कराने वाला सर्वश्रेष्ठ धर्म शौच है।

६ सयम—आस्रवो को त्याग सवर और निर्जरा मे आत्मा को प्रतिष्ठित करना सयम कहलाता है। कर्म बधनो से मुक्ति प्राप्त करने का उत्तम साधन सयम है। इन्द्रियो को विषय-विकारो से रोकना और यतना पूर्वक सभी शारीरिक, मानसिक और वाचिक कर्म करना सयम है। संयम पाप को रोकता है और नष्ट भी करता है। विवेक पूर्वक आचरण करना सयम है।

७ तप—'इच्छानिरोधस्तपः' इच्छा का निरोध करना तप है। बाह्य तप अनशन आदि और आभ्यन्तर विनय आदि तप है। पूर्व के बंधे हुए कर्मों को नष्ट करने का प्रबल साधन तप है। आत्मा के मैल को दूर करने का साबुन तप है। मुमुक्षुजन इसके आचरण से आत्म शुद्धि करते हैं।

८. त्याग प्राप्त साधनों से ममत्व उतारना त्याग है। धन को बांटना अन्य भोग्य पदार्थों का उपभोग नहीं करना परिग्रह से ममता उतारना आदि त्याग है। जो भी अपने अधिकार में अधिक साधन हैं उनको वितरण कर देना भी त्याग है। दुराचार, दुर्व्यसन आदि का छोड़ना त्याग है। यह समानवाद का सबसे बड़ा प्रशस्त धर्म मार्ग है।

९. आकिंचन—सम्पूर्ण परिग्रहों को त्याग कर विरक्त बन जाना आकिंचन है। यह आत्मा का सबसे बड़ा गुण धर्म है।

१० ब्रह्मचर्य—आत्मानुरूप आचरण करना और ब्रह्म को प्राप्त करने का मार्ग ब्रह्मचर्य है। सम्पूर्ण मिथुनचर्या का त्याग करना ब्रह्मचर्य है।

लेश्या

आत्मिक उत्कर्ष के नाप तौल के अनन्त नापदड होते हैं उन
लेश्या और गुणस्थान जैनागमो मे वीर की सर्वज्ञता को प्रकट करा
मे विशेप स्थान रखते हैं। कषायोदय अनुरजित योग प्रवृत्ति को लेश्य
कहते हैं।

लेश्या के दो भेद हैं—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। द्रव्य लेश्य
कर्म निष्पन्द—वध्यमान कर्म प्रवाह रूप है और भाव लेश्या—आत्मा वे
परिणाम विशेष हैं, जो सक्लेश और योग से वनते हैं। सक्लेश के तीव्र
तात्रतर, तीव्रतम, मद, मदतर मदतम, आदि असंख्य भेद है। इन सवको
उदाहरणो से इस तरह समझाये गये हैं। वे योग प्रवृत्ति के भाव निम्न
प्रकार से प्रकट किये गये हैं। लेश्या के छ भेद होने से छ पुरुपो के
काल्पनिक विचारो द्वारा उनको उदाहरित किया जाता है। उदाहरण
—छ पुरुप आम के फल खाने की भावना से जगल मे जा रहे थे।
छ हो ने आम वृक्ष देखा और इस प्रकार अपने-अपने भाव दर्शाने
लगे।

प्रथम—(कृष्ण लेश्या वाला) देखो, यह आम्र वृक्ष है। इसे मूल
से काट दें और वाद मे तमाम आम्र फलो को तृप्ति से खावें।

दूसरा—(नील लेश्या वाला) मारे आम्र वृक्ष को क्यो काटना?
डाली को ही काट लें और उस पर लगे फलो से तृप्ति कर लें।

तीसरा—(कापोत लेश्या वाला) वडी-वडी डालो को क्यो काटे?
छोटी-छोटी टहनिया काट लें और तृप्ति कर लें।

मयम युक्त होता है जितेन्द्रिय वन जाता है, ऐसे परिणाम वाले पद्म लेश्यायी जीव होते हैं।

(६) जिनमे आर्त रौद्र ध्यान नष्ट होकर धर्म शुक्ल ध्यान की प्राप्ति होती है। वीताराग भाव की अनुकूलता होती है और सफेद वर्ण के कर्म पुद्गलो का निष्पद होता है, वे आत्माए शुक्ल लेश्यायी होती है।

लेश्या का भौतिक विज्ञान की दृष्टि से पूर्ण ज्ञान मिलता है। आज के मनोगत भावो के पुद्गल परिवर्तनो का फोटो खीचना सहज हो गया है। जैसे परिणाम वैसे कर्म पुद्गलो का निष्यन्द हो जाता है। शात, निर्वेद भावो को वतलाने वाले शुभ्रवर्णी पुद्गलो का दर्शन आप शरीर के मनोगत भावो के फोटोज से कर सकते हैं। मलीनता, क्रूरता आदि भावो की उत्पत्ति से वैसे ही आत्मिक कर्म पुद्गल निष्यन्द वन जाते है और फोटो भी वैसे ही काले रग के आते हैं।

कर्मो की परिज्ञा पानी मे पडे हुए रगो के उदाहरणो से भी की जाती है। पानी स्वच्छ होता है लेकिन जैसा-जैसा रग डालते है वैसा ही पानी वन जाता है। उसी पानी मे श्वेत कपडा डालने पर वैसा ही रग वाला वन जाता है। उसी तरह आत्मिक परिणामो से उत्पन्न स्थिति से चारो तरफ गिरे हुए पुद्गल अणुओ-कार्मणवर्गणाओ के पुद्गल आत्मा से आकर चिपक जाते हैं और उसी तरह की आत्मा वन जाती है। इस तरह मलीन वनी हुई आत्मा से सवर और निर्जरा रूप आचरण साबुन से मलीनता दूर की जाकर शुद्ध स्वरूप प्राप्त किया जाता है। मलीनता और शुद्धता की स्थिति की तरतमता को वतलाने वाली प्रक्रिया लेश्या है।

गुणस्थान

लेश्या के ही समान दूसरी आत्मा की उत्कर्ष की भूमिका का परिज्ञान कराने वाली पद्धति गुणस्थान है। गुणों के उत्कर्ष की तरतम भावापन्न अवस्था को गुणस्थान कहते हैं। यह पद्धति भी विज्ञान के अनुकूल है। आत्मा एक स्वतन्त्र तत्त्व है। द्रव्य रूप से भी स्वतन्त्र है। चेतना उसका स्वाभाविक लक्षण है। जब तक आत्मा शुद्ध बुद्ध नहीं बनता जीवात्मा के पारिभाषिक शब्द का प्रयोग उसके लिए अनुकूल है। सिद्धात्मा और जीवात्मा गुणों की दृष्टि से समान हैं लेकिन वभाविक गुणों के ससर्ग से चेतना गुण पर आवरण आ जाते हैं अतः वे आवरण कम अथवा क्षय होने के कारण जन्म मरणादि पर्यायों में दबे रहते हैं। जहां जन्म मरणादि प्रक्रिया चालू है वहां जीव शब्द का प्रयोग वांछनीय है। जिसमें प्राणादि से जीता है वह जीव है जन्म प्राणादि का अनुवर्ती है वह आत्मा है। लेकिन आत्मा जीवन में अनुभूत होती है और संसार में ऐसी आत्माओं को जीवात्मा कहते हैं और शुद्धता को परमात्मा कहते हैं। इन दोनों के बीच में क्रमिक विकास भूमिकाएं हैं वे गुणस्थान कहलाती हैं।

इस क्रमिक विकास के १४ गुणस्थान हैं। उनका नाम और सामान्य विवरण निम्न प्रकार है —

प्रथम भूमिका मिथ्यात्व गुणस्थान की है यह जीवात्मा का सबसे मलीन आवरण वाली प्रथम विकास भूमिका है। इसमें जीवात्मा कितना ही भौतिक शक्तिधारी क्यों न हो आत्मत्व की उसकी गति नहीं के बराबर होती है। क्योंकि दर्शन मोह और चारित्र मोह का उदय होता

है। मोह एक तरह का नशा है जो आत्मा की सही स्थिति का बोध भी नही होने देता। इस भूमि मे बहिरात्म भाव या मिथ्यात्व होता है। वह गलत मान्यता से सही मार्ग को पा नही सकता। जैसे दिग्भ्रम वाला मानव पूर्व की ओर जाना चाहते हुए भी दिशा ज्ञान नही होने से पश्चिम की ओर चला जाता है इसी तरह जीव मोह जन्य मिथ्या-झूठा ज्ञान से आत्मिक विकास को पा नही सकता लेकिन इस भूमिका में सभी जीव एक जैसे नही होते। कुछ दर्शन मोह का नाश करने के लिये अपने तीव्र बल का प्रयोग करते है। ग्रन्थि भेद करने मे सफल हो जाते हैं। आत्मा का स्वरूप नदी पाषाणवत् धीरे-धीरे थपेडे खाता हुआ (ससार के सुख-दुःख, ज्ञान अज्ञान आदि अवस्थाओ मे गुजरता हुआ) तीव्रतम मिथ्या-दर्शनावरण कुछ शिथिल होने से अनुभव होने लगता है। वीर्योल्लास की मात्रा बढती है।

इस विकसित आत्मा के परिणामजन्य स्थिति को जो अज्ञान पूर्वक दु ख सवेदना जनित अति अल्प शुद्धि का कारण है उसे यथा प्रवृतिकरण कहते हैं। दुर्भेद मोह की गाठ को तोडने योग्य शक्ति संपादन कर लेने के बाद ग्रन्थि भेद करने की स्थिति प्राप्त होती है उसे अपूर्व करण कहते हैं। इस स्थिति के प्राप्त होने के बाद दर्शन मोह पर जीवात्मा अवश्य विजय प्राप्त करता है और ऐसी आत्मशुद्धि हो जाती है जिससे वापस आत्मा मिथ्यात्व की चरम सीमा की ओर नही बढ सकता। अत. ऐसी आत्म स्वरूप जानने की निश्चित स्थिति को अनिवृतिकरण कहते हैं। इसी स्थिति को अन्तरात्म भाव भी कहते है।

इससे विकास की ओर बढता हुआ जीवात्मा सम्यग्दर्शन नामक चतुर्थ गुणस्थान भूमिका को प्राप्त कर लेता है। इसमे यथार्थ दृष्टि-स्वात्म स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। इसे सम्यक्त्व नाम भी दिया है। आत्म बोध होने पर आत्मा अल्प विरति या साधारण त्याग भाव मे रमता है वह आत्मा की पाचवी देश विरति गुणस्थान भूमिका है। इसके बाद सर्व विरत बन कर छठवें सर्व विरति गुणस्थान भूमिका को

रण करता है। स्वरूप अभिव्यक्ति के मनन चिन्तन के अलावा सभी भावों को त्याग कर 'अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान को भूमिका को प्राप्त करता है लेकिन चित्त वृत्ति स्थिर नहीं होने से इन सातवें गुणस्थान में जीव बार-बार आता जाता रहता है। एक तरफ अप्रमादजन्य उत्कट सुख अपनी ओर खींचता है तो दूसरी तरफ प्रमादजन्य पूर्व वासनाएं भी अपनी ओर खींचती हैं। इस खींचातानी की अवस्था को पार करने के बाद प्रबल शक्ति से मोहनीय दशा के नाश की स्थिति प्राप्त करने की भूमिका अदा करता है उस आठवां गुणस्थान कहते हैं।

इस आठवें गुणस्थान में औपशमिक और क्षायिक भाव जय दो प्रकार की विकास श्रेणियां प्रारम्भ होती हैं। जो जीवात्माए मोह की प्रकृतियों को दबा देते हैं या शान्त कर देते हैं वे उपशम श्रेणी को धारण करते हैं और जो जीवात्माए मोहनीय कर्म की प्रकृतियों को नष्ट करते जाते हैं वे क्षायिक श्रेणी की ओर बढ़ते हैं।

सातवां गुणस्थानवर्ती जीव क्षयोपशम सम्यक्त्वी होता है। एक ही गुणस्थानवर्ती जीव दो प्रकार की शक्ति वाले होते हैं। एक प्रबल क्षय और एक उपशम। जैसे आग पर राख का जम जाना और कालान्तर में आग का प्रकट हो जाना। आठवें गुणस्थान से ९वें १०वें और ११वें गुणस्थान में दोनों प्रकार के जीवात्माएं होते हैं। उपशम श्रेणी वाले ११वें गुणस्थान में मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के वापस उदय हो जाने से नीचे गिरते हुए चौथे और उसमें तीसरे और दूसरे में आ पड़ते हैं। अन्त में मिथ्यात्व को प्राप्त कर लेते हैं। जैसे किसी भी मंजिल में १४ पंक्तियें होती हैं। सशक्त पुरुष हिम्मत करके चढ़ता है लेकिन ११वें से पैर फिसलने पर संभल नहीं पाता और पृथ्वी पर आ गिरता है।

तीसरा गुणस्थान सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मिश्रण से होता है ऐसी मिश्रित अवस्था जिसका निर्णय असंभव है। उपशम सम्यक्त्व और

चारित्र मोह वाला पतित अवस्था मे इसी स्थिति को पाता है और मिथ्यात्व से ऊपर सम्यक्त्व की ओर वढते हुए भी इस स्थिति को पाता है। वमनोपरात शरीर व जीभ के स्वाद की जो स्थिति होती है, वैसी ही स्थिति दूसरे गुणस्थानवर्ती जीव की होती है। इसे सास्वादन गुणस्थान कहते हैं। खालिस स्वादन होता है अनुभव रहित ऐसी स्थिति अत्यन्त सूक्ष्म काल तक रहती है।

नववे दसवे मे उपशात और क्षायिक दोनो प्रकार के जीव होते हैं। दसवे से वारहवें गुणस्थान मे क्षायिक (क्षपक श्रेणी वाले) पहु च जाते है और मोहनीय कर्म का नाश कर आत्मिक शुद्धि कर लेते है। जव प्रधान सेनापति के नाश होने पर "घातिक कर्म नष्ट हो जाते है। उस समय आत्मा १३वे गुणस्थान मे पहु च जाती है। यह वीतराग दशा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म के नाश से प्राप्त होती है। मोहनीय कर्म १२वे गुणस्थान मे नष्ट हो चुका होना है उसके वाद अनन्त सुखमय स्थिति मे रहते हुए दग्ध रज्जू की तरह शुक्ल ध्यान रूपी पवन से अघाती कर्म—वेदनीय, आयु, नाम और गौत्र को नष्ट कर शरीर को छोड कर ब्रह्ममय स्थिति को प्राप्त करते ही परमगति मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जीवात्मा की यही शारीरिक वधन की अतिम विकसित स्थिति १४वा गुणस्थानवर्ती कहलाती है। इस गुणस्थान मे जीवात्मा अत्यल्प समय रह कर मोक्ष मे चला जाता है। परमात्मा वन जाता है। १४ गुणस्थानो का वर्गीकरण कर तीन विभाग भी किये जा सकते हैं। वहिरात्म भाव, अन्तरात्म भाव और परमात्व भाव। पहले से तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव वहिरात्म भावी होता है और चौथे से १२वें गुणस्थानवर्ती आत्मा अन्तरात्म भावी होती है। १३वा और १४वा गुणस्थान वाला आत्मा परमात्व भावी होता है।

ये गुणस्थान की १४ विकास भूमिकाए स्थूल रूप मे की गई है। सूक्ष्म रूप से तीन होती हैं और वृहत रूप से अनन्त है। सर्वज्ञ महावीर

ने साधारण मुमुक्षुजनों को पूर्णात्म और परमात्मा बनने के लिये सुगम पंथ इसी प्रकार प्रशस्त किये हैं।

इसी तरह मार्गणास्थान विचारणा की उत्तम परिपाटी और इसके तत्व चिन्तन और समझ की एक उत्तम प्रणाली है। इसका विशद वर्णन शास्त्रों में आता है।

आत्मा से परमात्मा बनना यह प्रत्येक सभी और असली प्राणी का लक्ष्य रहता है उसी लक्ष्य की पूर्ति में सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का परमावश्यकता है इसका सम्यक समीकरण ज्ञान और क्रिया रूप से भी किया गया है। इस मोक्ष मार्ग की ओर बढ़ने के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति अणगार और आगार तथा अहिंसा संयम और तप तथा बारह भावना साधारण ज्ञान और तद्‌रूप पालन होना आवश्यक है।

प्रवृति और निवृति —

इस जगत में प्रवृति और निवृति का बड़ा विवाद चलता आ रहा है। जैन धर्म निवृति प्रधान है और ब्राह्मण धर्म प्रवृति प्रधान है। अहिंसा-हिंसा से निवृति है और दया प्रवृति है। गृहस्थ धर्म को सारे विरक्त प्रवृतिमय मानकर हेय मानते हैं आत्मोत्कर्ष में बाधक मोह का उत्पादक और अनन्त संसार को बढ़ाकर भव भ्रमण कराने वाला मानते हैं।

वास्तव में यह व्याख्या सर्वज्ञ महावीर की नहीं है। सत्कार्यों में प्रवृति और असत्कार्यों से निवृति यही साधारण और स्पष्ट विवरण जगत् के सामने रखा जाना चाहिए। सत्कार्य वे हैं जो आत्मा के विकास में अनन्त ज्ञान दर्शन सुख और वीर्य को प्राप्त कराने में साधक है, और असत्कार्य वे हैं जो इनसे विपरीत अनन्त संसार को बढ़ाते हैं। दूसरा तरीका जैसे जीवात्मा अपने साथ अन्य का सुखद व्यवहार चाहता है वैसा ही दूसरों के साथ व्यवहार करे वह भी सत्कार्य है।

एकान्त निवृति साधक के लिए अनुकूल नही और एकान्त प्रवृति साधक के लिये बाधक नही। जहा जरूरत हो साधनावस्था मे प्रवृति को प्रधान बनाले और निवृति को गौण मान ले। जहा जहा विकास मे निवृति की प्रधानता की जरूरत हो, वहा उसको मुख्य स्थान दे दे और प्रवृति को गौण बनाले। प्राय प्रवृति को कर्म काण्डी लोग अधिक महत्त्व देते हैं और कर्म काण्ड धर्म के लिए अनुकूल और प्रतिकूल दोनो स्थिति वाला हो सकता है। एकान्त स्थिति को तोड कर यथार्थ और अनेकान्त साधक की साधना के अनुकूल स्थिति पर चलना ही प्रवृति-निवृति का बोधक बन सकता है।

मुमुक्षजन संयम मे, तप मे और साधना के अन्य तरीको मे प्रवृत होता हुआ विरत होता है और आस्रव या बन्ध हेतु कार्य मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, योग और प्रमाद से निवृत होता हुआ भी विरत होता है। इस तरह दोनो मार्गो का ध्येय एक ही होने से प्रवृति और निवृति परस्पर साधक बन जाती है।

———

अणगार और आगार धर्म

गृहस्थ एवं साधु दो प्रकार के भेद सारी मानव जाति के हैं। संसार का अनुरागी और विरक्त एसे दो भेद भी किये जाते हैं। आगार और अणगार धर्मी भी कहते हैं। अणुव्रती और महाव्रती भी कहते हैं। दोनों प्रकार के मानव मानवियों के धर्मों को दोनों प्रकार के धर्म कहते हैं।

भगवान महावीर ने छोटे से छोटा त्याग प्रत्याख्यान करने वाले व्रती को अणुव्रती कहा है। अणुव्रती और महाव्रती के त्याग के ४९ भेद होते हैं।

करूं नहीं कराऊं नहीं और अनुमोदूं नहीं मनसे वचन से और काया से। इन तीन करण और तीन योगों से पूरे ४९ भांगे बनते हैं। ४९ भांगों में से किसी भी प्रकार के व्रत का कितने भी नम्बर के भांग से गृहस्थी स्वीकरण कर सकता है। लेकिन ४९वां भांगा महाव्रती का पालन करना आवश्यक है। गृहस्थ धर्म के नियमों से यह नियम सर्वोपरि है। गृहस्थ वय में रहता हुआ भी साधक ४९वें भंग से साधु महाव्रती बन सकता है। वेष और धर्म भिन्न भिन्न वस्तुएं हैं। धर्म पालन करना वय पर निर्भर नहीं अपितु आत्म शक्ति पर निर्भर है। तीन करण तीन योग का त्यागी अथवा तीन करण तीन योग का व्रती महाव्रती विरक्त अणगार धर्मी कहलाता है। प्रदेश त्याग अणुव्रत कहलाता है लेकिन यह प्रदेश त्याग महाव्रत के पूर्व तक का हो सकता है। दो करण तीन योग या तीन करण दो योग माना जाता है।

महाव्रती पूर्णतया योग्य और पात्र होता है यह कोई आवश्यक नहीं है। एक एक गृहस्थ एवं एक साधु में भी उत्तम होता है। ये सब

से कम ४८ मिनट की मानी जाती है। द्रव्य सामायिक करने मे एकान्त स्थान, शरीर से वस्त्र दूर करना और सामाइक व्रत के उपयुक्त साधनो को ग्रहण करना मात्र है। जिससे बाह्य तौर पर पहिचान सकते हैं कि अमुक आदमी सामायिक व्रत मे है, वही द्रव्य सामायिक है। भाव सामायिक आत्मा की साधना का प्रमुख लक्ष्य है। चेतन प्राप्ति के लिए समता भाव को जागृत करना प्रमुख ध्येय है। ध्यान, मौन, स्वाध्याय, चिन्तना, पृच्छनादि कृत्य इसके साधन है।

ऐसी सामायिक दो प्रकार की होती है। देशव्रती श्रावक की और सर्व व्रती साधु की। देशव्रती श्रावक की सामाइके एक क्षण से लगा अमुक समय तक निर्धारित होती है। समय निकाल कर गृहस्थ जीवन मे आत्म साधना की जो प्रक्रिया की जाती है वह स्वल्पकालीन होती है लेकिन महाव्रती की सामाइक जीवन भर की होती है। इस तरह सामायिक-व्रत लेने मे भी प्रत्याख्यान मे भग श्रावक के लिए स्वीकार्य है। एक करण योग से लेकर एक करण तीन योग या तीन करण तक मान्य है। ४६वा भग तीन करण तीन योग का प्रतिमाधारी ऊंचे श्रावक और साधु व्रती का है।

इसी तरह सवर—आस्रव का त्याग का त्याग कहलाता है। श्रावक और साधु दोनो सवर का आश्रय लेते है। पाच आस्रव विषय, कषाय प्रमाद, अशुभ योग, अव्रत को ४८ भग से त्याग करना श्रावक का सवर कहलाता है। वह अपेक्षित समय तक के लिए होता है। इसे दया और पौषध भी कहते हैं। आहार करके सवर की आराधना करना या दशवे व्रत की आराधना करना दया या आहार पौषध कहलाता है। इसी तरह सम्पूर्णतया आहार का त्याग, शस्त्रो का त्याग, शरीर शोभन प्रक्रियाओ का त्याग, जवाहरात व सुवर्ण आदि ग्रहण का त्याग करना प्रतिपूर्ण पौषध मे आता है यह भी ४८ भग तक का होता है। और उपवास व्रत ३६ घंटे का होता है। बढाते रहने पर कई दिनो का भी

वीर-निर्वाण

हो सकता है। इसमें अन्य प्रक्रिया साध्वाचार की की जाती है। ४६वां अंश ऊंचे श्रावक और सभी साधुओं का है। श्रावक लोग पौषध सामायिक और संवर क्रियाओं के लिए उपासना गृह भी बनाते हैं उसे पौषध शाला कहते हैं। सामूहिक पौषध सामायिक एवं संवर क्रियाएं भी की जाती हैं वे निजी पौषधशाला में और धर्मशाला-जिसे वर्तमान में स्थान उपाश्रय एवं पंचायती नोहरा भी कहते हैं। कहीं कहीं सामायिक भवन एवं उपासनागृह भी बनाये जाते हैं। जहां सामूहिक प्रायः सामायिक आदि व्रतों की उपासना तथा धर्म के व्याख्यान वगैरह होते हैं। श्रावक की पहिचान के लिए प्रशम संवेग निर्वेद अनुकम्पा और आस्था ये पांच गुण आवश्यक हैं। अतः सामायिक आदि क्रिया के पालने में इन गुणों की वृद्धि की तरफ लक्ष्य होना ही चाहिये।

पन्द्रह कर्मादान श्रावक के लिए वर्जनीय कर्म हैं। जंगल को जलाकर कोल से आदि का व्यापार करना जंगल कटाने का व्यवसाय करना वेश्यावृत्ति द्वारा अपनी आजीविका चलाना जीवों की हत्या हो ऐसे बड़े बड़े कारखाने आदि में उद्योग करना तालाब आदि सुखाने का धंधा करना आदि १५ धंधे वर्जनीय हैं।

प्रतिदिन जहां तक बन सके रात और दिन के दो सामायिक प्रतिक्रमण दोनों समय करना पौषध जसे त्याग किये हों वसे और प्रतिमा धारण करने का भाव जीवन भर चलता है। एसे ही साध्वाचार जीवन के समान अन्तिम समय तक सलेषणामय पंडित मरण प्राप्त करने तक पालन करना आवश्यक है। मृत्यु के समय इस लोक में सुख पाने की इच्छा परलोक में सुखी होने की इच्छा जीने की इच्छा मरने की इच्छा और भोगोपभोग प्राप्त करने के लिए निदान की इच्छा करना पंडित मरण के खिलाफ है। श्रावक और साधु इन दोनों अन्वियारों को त्याग कर अनशन को ग्रहण कर एक स्थिर शरीर मन वचन से परमात्म भाव में रमण करने से पंडित मरण की प्राप्ति होती है। अंत समय आत्मोल्लास का होना परमावश्यक है। वसे जीर्ण वस्त्र

को छोड कर नये वस्त्र के धारण मे उल्लास होता है वैसे ही शरीर त्याग मे मरणासन्न आत्मोल्लास का अनुभव कर प्राणो का उत्सर्ग करे। यह अन्तिम शरीर त्याग के समय की प्रक्रिया है। इसे समाधि मरण क्रिया भी कहते है। सम्पूर्ण आस्रवो का त्याग कर दिया जाता है और तप रूपी ईंधन से आत्मा के कर्म पुद्गलो को जलाने के लिए प्रायश्चित रूपी प्रेरणामय हवा से समाधि मरण की ओर अग्रसर होना आनन्दानुभूति का प्रबल प्रयोग है। साधु और गृहस्थ को, जिसे वीर शासन मे श्रावक, श्राविका, साधु और साध्वी रूप चतुर्तीर्थ कहते हैं को बारह भावनाओ को भाना परमावश्यक है। आत्मा को आत्मिक प्रशस्त गुणो को प्रकट करने, निर्भय बनने, एकाकी साधना करने और उत्तम आचार मे दृढ रहने के लिए इन भावनाओ को भाना परमावश्यक है। अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, धर्म और बोधि दुर्लभ ये बारह भावनाएं है जिनका विशद वर्णन ग्रन्थो मे है।

श्रावक के लिए इक्कीस गुणो को धारण करना एव तीन मनोरथ चिन्तवना परमावश्यक है। दान देने का कार्य भी श्रावक के लिए प्रधान माना गया है। यो साधुओ के लिए भी दान का मार्ग है लेकिन श्रावक परिग्रही होता है, साधु अपरिग्रही होता है दोनो के दानो मे अन्तर अवश्य है। साधु सयमी और असयमी को ज्ञान और अभय दान दे सकता है लेकिन अन्न वस्त्रादि दान अपने अनुसार आचार पालक को ही कर सकता है।

मोक्ष के चार मार्ग दान, शील, तप और भाव भी हैं। आत्मोत्कर्ष के ये चार परिचर्याए धारणीय एव करणीय हैं। "अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गोदानम्"। दूसरो पर करुणा पैदा होने पर अथवा दूसरे के उपकारार्थ अपनी अहित वस्तु या उसके अधिकार को त्याग करना दान है। अन्न दान, वस्त्र दान, धन दान, विद्या दान, चारित्र दान एव अभय दान आदि अनेक भेद हैं। अहित वस्तु का त्याग करने से आत्मा

है ज्ञानद गुण का प्राप्ति होती है। अन्य जीवो को प्राण दान देना अभयदान देना जीवनदान देना और ज्ञान क्रिया का दान देना सब श्रेष्ठ दान है। शिष्टाचार सदाचार मय वतन बाह्याभ्यतर तपराधन और उच्च भवों में मरण क्रियाए चेतन गुण की प्राप्ति मे परम सफल हैं।

इसी तरह अहिंसा सयम और तप य तीन माग भी मोक्ष के बताय हैं। 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष माग भी उल्लेखनीय है। ये सभी क्रियाए गहस्थ और साधु दोनो को आदरणीय हैं।

सवज्ञ महावीर की भाषा मे—महाव्रतो के शब्दों की व्याख्या बडी सुन्दर दी है —

१ प्राणातिपात प्राणव्यपरोपणम् हिंसा—जीव कभी मरता नहीं लेकिन उसके प्राणों से युक्त होने से प्राणी कहलाता है उन प्राणों म से सब या एक का भी अतिपात करना या प्राणों का नाश करना हिंसा है। चू कि इस क्रिया से प्राणी को दु ख का अनुभव होता है। दु ख का अनुभव पाप का एव हिंसा का कारण है।

२ असदभिधान मनृतम्—यथाथ से विपरीत बोलना झठ है। यथार्थ को छिपाना झूठ है।

३ अदत्तादान स्तेयम्—बिना दिये या बिना मांगे वस्तु को लेना चोरी है।

४ मथनमब्रह्म—विषय सेवन करना अब्रह्म है।

५ मूर्छा परिग्रह—जीव और अजीव तत्वों या जड चेतन वस्तुओ मे ममता रखना परिग्रह है। जगत के पदार्थ कभी किसी के होते नहीं है लेकिन इन्हे अधिकार में लेकर ममता रखना परिग्रह है।

प्रकीर्ण विषय :

अतीत की दृष्टि से वर्तमान का संतुलन

जगत् और ईश्वर

जगत् अर्थात् चराचर प्राणीमय ससार और ईश्वर से मतलब एक सर्व शक्तिमान ऐश्वर्यशील (सपूर्ण ससार ही जिसका ऐश्वर्य) महान् या परम पुरुष से लिया जाता है।

आज का विश्व अनन्त ब्रह्माण्डमय है। उसका अस्तित्व कैसे आया और उसका संचालन कौन करता है? ये प्रश्न सृष्टि के प्रारम्भ से अन्वेषित हो रहे है। जैसे बर्तन, कुर्सी, मकान आदि का रचयिता कोई है उसी तरह जगत की सरचना करने वाला और सचालन करने वाला भी निश्चित रूप से है। यह तर्क अवश्यभावी है। वेदान्ती सारी सृष्टि का निर्माता ईश्वर और जीवात्मा को दुःख सुख एव भले बुरे का फल देने वाला ईश्वर तथा ससार के इस सारे परिक्रम को चलाने वाला ईश्वर है, वही अदृश्य शक्ति है ऐसा स्वीकार करते है और ऐसा भी कहते हैं कि "न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभो। न कर्म फल सयोग स्वाभावस्तु प्रवर्तते" ।।गीता।। ससार का सर्जन करने वाला या कर्म का फल देने वाला ईश्वर नही है यह तो स्वभाव मे ही प्रवृत है।

संसार के मुस्लिम, क्रिश्चियन, अथवा अन्य सभी सम्प्रदाय (मजहब) वाले एक ही ईश्वर की उपासना करते है और भले बुरे फलो का दाता तथा प्रार्थना से पाप दूर करने वाला मानते है। ऐसी स्थिति मे सर्वज्ञ वीर की अतीत की मान्यता स्पष्ट है कि यदि इस ससार का

इस रचयिता और संचालन कर्ता मानते हैं तो उस परम शक्ति का निर्माता और नियन्त्रक भी कोई होना ही चाहिये। ऐसा मानते चलें तो निर्माता एवं संचालकों का अन्त मालूम नहीं पड़ सकता। यह अंडे और मुर्गी की भांति अकल्पनीय है।

सृष्टि का अणुओं से पिण्ड बनने में निर्माण होता है और पिण्डों के परिवर्तन से संचालन होता है। संचालन में सहयोगी चेतन नामक तत्व अवश्य है लेकिन निर्माता और संचालन कर्ता मात्र नहीं है। वह तो उसमें प्रवर्तमान है। सृष्टि का आदि का पता नहीं अतः निर्माता का भी पता नहीं। सृष्टि में दो तत्व जीव और जड़ सदा शाश्वत हैं अतः अन्त का भी पता नहीं। प्रलय होने पर भी पानी अग्नि वायु, वनस्पति एवं अन्य त्रस जीव अवश्य वर्तमान रहेंगे। जीवाजीव का सम्मिश्रण ही जगत् है। जगत का सृजन भी दोनों से होता है। और विघटन भी परस्पर होता है लेकिन उसका सर्वनाश नहीं होता।

इस जगत् के जीव मात्र स्वयंकर्ता हैं स्वयं भोक्ता हैं। कोई विशेष शक्ति उसके दुःख सुखों की निर्णायक नहीं हो सकती। जैसे भाव वैसे कामण वर्गणा के बंध। वैसे ही उदय एवं सत्कर्मों से कर्मों के नाश आदि प्रक्रियाएँ स्वाभाविकी हैं। जीव चेतनशील प्राणी है अतः उसका प्रमुख दृष्टि गोचर होता है लेकिन वह भी कर्म वश के आधीन है।

अनन्त ब्रह्माण्ड का आदि और अन्त का पता पाना सर्वज्ञ और सर्वदर्शी का काम है लेकिन वे उस अनन्त ज्ञान को कह नहीं सकते अतः यह वस्तु विज्ञान के इति + न इति = नेति नेति पदों की व्याख्या से ही स्पष्ट है। इस पर विशेष प्रकाश डालना बुद्धि बल के लिए असम्भव है। जगत् है। अनादि काल से है। अनन्त काल तक रहेगा। संसार में उत्पन्न होने वाला जीव स्वयं इच्छा से मुक्त होने से ईश्वर है वह स्वयं कर्ता है सृष्टि के निर्माण में सहभागी है लेकिन अलग कोई

ईश्वर नाम की शक्ति इस कार्य को करने के लिए न तो है, न होगी। सच्चिदानन्दमय परमात्मा अवश्य है जो स्वय ज्योति स्वरूप है और अनन्त ज्ञान और सुख मे लीन निर्लेप है।

व्यवहार और निश्चय

जैनियो और अन्य धर्मावलम्बियो मे व्यवहार को लौकिक और निश्चय को लोकोतर से सबधित बताते हैं। जितना भी जीवो का सासारिक रीति, रस्म, सस्कृति, रक्षा, व्यवस्था आदि परिश्रम है वह सब व्यावहारिक है। निश्चय मे आत्मा के स्वाभाविक गुणो को विकसित करने के कार्य ही आते हैं। व्यवहार सब पापमय हैं और निश्चय धर्ममय है। व्यवहार ससार मे रुलाने वाला है निश्चय मुक्ति का दाता है।

इसी मान्यता को साधु वर्ग अपनी चर्या को निश्चय की और श्रावको की चर्या को व्यवहार की मानते है। इसे लौकिक धर्म और लोकोतर धर्म भी कहते हैं।

सर्वज्ञ महावीर ने निश्चय पर चलते हुए भी व्यवहार की प्रधानता स्वीकार की है। आत्मा स्वय खाता, पीता, चलता नही है लेकिन वीतराग होते हुए भी इन क्रियाओ को यतनापूर्वक करने मे धर्म कहा है। व्यवहार से निश्चय की ओर बढा जाता है। व्यवहार पक्ष को सदा स्वीकार किया है। घी का घडा नही होते हुए भी व्यवहार मे मिट्टी के घडे मे घी होने से भगवान घी का घडा ही बोले है। क्रियमाण को करने मे स्वीकृति दी है अत जो एकान्तमती है वीर के अनेकान्त धर्म को नही जान पाये है। व्यवहार को निश्चय का अनुगामी मानने मे वीर धर्म की परिपालना के लायक बनेंगे। व्यवहार सर्व प्रथम है। व्यवहार साधना से निश्चय की साधना होगी। शरीर रक्षण से धर्म साधना सुलभ है। शरीर नाश से पाप।

कोई-कोई ऐसे प्रवर्तक है जो ज्ञान को महत्त्व देते हैं और क्रिया

चेतनमय चारित्र को हेय मानते हैं। जीवात्मा चेतनमय है अतः चेतन को प्रकट करने के लिए ज्ञानावरण का नाश करना चाहिए न कि मात्र चारित्र पालनमय क्रियाओं का व्यवहार करना चाहिए। आत्मिक ज्ञान के प्रकट होते ही निरंतर केवलज्ञान की ओर गति हो जाती है। लेकिन यह मान्यता स्वज्ञान पोषक है। सब ज्ञानदायक नहीं। पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने हेतु दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय दोनों कर्मों का सब प्रथम नाश करना होगा। इन कर्मों के नाश में वीर्य का प्रयोग ही क्रिया और चारित्र पालन है इस क्रम इनकार किया जाता है।

वीर ने स्पष्ट उद्घोष किया है कि व्यवहार शून्य संसार और व्यवहार शून्य सशरीर परमात्मा जगत के अस्तित्व में नहीं रह सकते। व्यवहार और निश्चय सहभावी प्रवतियां हैं और सब मुमुक्षजनों को समान वरदायी है।

धर्म और अधर्म

भगवान महावीर या किसी भी महापुरुष अथवा अपौरुषेय शक्ति भगवान का बताया हुआ मार्ग ही धर्म है अन्य सभी अधर्म हैं। ऐसी मान्यताएं प्रत्येक धर्म वाले अपने अपने धर्म के प्रचार में प्रचलित करते आये हैं। लेकिन धर्म सबका एक है और उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। देश और काल के अनुसार उसके प्रवर्तन में अन्तर आता है। मूल में अन्तर नहीं आता। धर्म सदा शाश्वत है। सबके लिए समान है। जैसे—प्रेम सत्य क्षमा शान्ति गुण सभी धर्म वाले स्वीकार करते हैं।

संसार और समाज की व्यवस्था और शान्ति में जो-जो नियम उपयोगी होते हैं वे सभी धर्म होते हैं। धर्म का मूल सद्व्यवहार है। जैसा स्वयं प्राणि अपने लिये चाहता है वैसा ही व्यवहार दूसरों के लिए करे वह धर्म है। जिन जिन कार्यों से आत्मा को उत्पीड़न होती है उन्हीं कार्यों से अन्य को भी दुःख होता है। अतः दूसरों के साथ वही व्यवहार किया जाये जो सुख का कारण हो। जीव वध करना नहीं

लेकिन उसके प्राण रूप ऐश्वर्य का हनन करना ही अशांति और अव्यवस्था करना है अतः ऐसे व्यवहार जो अपने और पराये के भले के हो, धर्म है।

अपनी मान्यता धर्म की और अन्य की मान्यता अधर्म की। अपना आचरण धर्म। अपना ग्रन्थ धर्म का। अन्य का आचरण और ग्रन्थ अधर्म का ऐसा कहना मिथ्यालाप करना है। सर्वज्ञ प्रणीत या ईश्वरीय मार्ग धर्म है ऐसा भी कहना गलत होगा। जो प्राणियो का अहित कर्ता मार्ग है वह सब अधर्म है।

पुण्य और पाप

दोनो आस्रव है, अतः हेय है। ये विचार एक-एक आचार्य के है। "आत्मन य पुनाति स पुण्य." । आत्मा को जो पवित्र करता है, वह पुण्य है। तब पुण्य, पाप की तरह हेय किस तरह है। पुण्य नदी तिरने के लिए नाव तुल्य है जबकि पाप पाषाण तुल्य है। पाषाण पर चढकर नदी नही तिरी जा सकती, यद्यपि नदी पार पहुचने पर नाव को भी छोडना पडता है।

निर्जरा और सवर का कार्य करना ही धर्म है। अन्य पुण्य के कार्य करना अधर्म है। लेकिन एकान्त पक्षी विचारक यह भूल जाते है कि उनका वर्तमान शरीर, आयु, मस्तिष्क एव अन्य ज्ञान परिज्ञान कर्मो की पुण्य प्रकृतियो से मिले है या पाप प्रकृतियो से ? वस्त्र, अन्न, ज्ञान, अभयदान देना पुण्य है लेकिन एक-एक आचार्य ऐसे दान से अठारह पाप बंध का कारण मानते हैं। जीव जीकर अनेक पापारभ करता है वह अभयदान प्राप्तकर्ता प्राणी इसका दोषी है अत प्राणी रक्षा करना अधर्म है। प्राणी को नही मारना धर्म है।

ये मिथ्या धारणाए अनेकान्तमय वीरवाणी को नही समझने का ही परिणाम है। करुणा भाव मे हृदय कृप होता है उसमे किया गया कार्य पाप नही हो सकता। सचित पानी पिलाना, कुए खुदाना,

है। करना आदि आरम्भ है। इन कार्यों से पुण्य पैदा होता है वह भी पापमय पुण्य है। हेय है। यह एक पक्षीय एक मान्यता है। पापानुबंधी पाप-पूर्व बुरे कृत्यों से प्राप्त राक्षसी वृत्ति से पुनः हिंसादि कृत्य करना अधम हो सकता है। पापानुबंधी पुण्य प्राप्त राक्षसी वृत्ति से जगत् का कल्याण करना धर्म है। पुण्यानुबंधी पाप प्राप्त मानव इस शक्ति से विषयों की वृद्धि प्राप्त कर हिंसा चोरी आदि कृत्य करना अधर्म है और पुण्यानुबंधी पुण्य शुभ साधन प्राप्त जीव शुभ कार्यों को करता है तो धर्म का कारण है।

पुण्य और पाप भले बुरे कर्मों से होते हैं। पुण्य से तीर्थंकर कर्म का उपार्जन होता है। शास्त्र श्रवण सत समागम वीर्य प्रकाशन आदि पुण्य का कारण है अतः पुण्य धर्मानुगामी धर्म है। अन्त में हेय है इसलिए सदा के लिए हेय नहीं। आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्रकाशित करने के योग्य साधन जुटाने वाला है अतः पुण्य ग्राह्य है। एक बात स्पष्ट कर देता है कि मनुष्यों को प्राप्त धन वैभव आदि पुण्य नहीं हैं न पुण्य से लक्ष्मी आदि प्राप्त होती है लेकिन ये पुण्य के कारण अवश्य बन सकते हैं। जिसके चेहरे पे शांति और प्रसन्नता एवं निर्भयता टपकती है वह पुण्य के प्रताप से है। पापात्मा को भी धन वैभव की प्राप्ति होती है लेकिन इससे वह पुण्यात्मा नहीं होता।

पुनर्जन्म और पूर्व जन्म

आत्मा अमर है, तत्व सदा शाश्वत् है। जन्म मरण पर्याय हैं। जीर्ण वस्त्र होने पर त्याग किया जाता है उसी तरह शरीर जीर्ण होने पर छोड़ दिया जाता है इसे मृत्यु कहते हैं और दूसरे शरीर को धारण करना जन्म लिया कहते हैं। पहले जन्मा था तभी मरा और मरा तब पुनः जन्मा यह एक प्रक्रिया है जो पुनर्जन्म को प्रकट करती है और पूर्व जन्म को बताती है।

वैज्ञानिक परीक्षण कहते हैं कि [illegible] के [illegible] को [illegible] से [illegible] हैं कि [illegible] के पूर्व [illegible] के [illegible]

आते हैं उसे छोटी से छोटी नादान उम्र के बच्चे प्रकट करते है तब हम उसे जाति स्मृति कह कर पुकारते है वही पूर्व जन्म के सस्कारो का द्योतक है।

आज जो वैभव और साधन हमारे बिना प्रयत्न के पैदा होने के पूर्व प्राप्त हुए है वह पूर्व जन्मकृत कर्म का फल ही समझना चाहिए। मेरे निजी अनुभव की एक घटना है। मै सहसा एक अपरिचित व्यक्ति से मिला और मिलते ही मुझे अपार, प्रसन्नता हुई। मालूम हुआ कि यह मेरा निजी व्यक्ति है और वह अभी वैसा ही बना हुआ है। पूर्व प्रयोग या परिचय कुछ भी नही था। न परिस्थितियो ने ही ऐसा ज्ञान कराया।

पूर्व जन्म के मानने से ससार व्यवस्था मे शाति का उदय होता है और पुनर्जन्म मानने से भी इसी प्रकार की मदद मिलती है। तत्वो का नाश नही होने का प्रमाण स्वतः सिद्ध है। जब तक आत्मा है ससार मे जन्म-मरण करती रहेगी। जन्म-मरण पुनर्जन्म और पूर्व जन्म का लेखा मात्र है।

आत्महत्या और पंडित मरण

जब कोई आत्मा भय, दु.ख, सताप से आक्रान्त होती है तो अत्यन्त असहनीय स्थिति बनने पर मरणोन्मुख बनता है। जहर खाकर, हीरा चूस कर, पानी मे पडकर, पहाड से गिर कर, रेलगाडी के सामने सोकर अथवा अन्य शस्त्रादि से आत्महत्या करता है लेकिन विज्ञ पुरुष अपनी आत्मा की शाति का आह्वान करने के लिए निर्विकल्प और निश्चल भाव धारण करता है। भोजन पानी छोडता है और आत्म रमणता की ओर गति करता है। प्रायश्चित से आत्मा को शोधित करता हुआ अपने कृत्यो मे आनन्द पूर्वक गति करता हुआ शरीर छोडता है वह आत्महत्या नही अपितु पडित एव समाधि मरण है। ऐसा मरण ईमानदार, सदाचारी, निर्भीक, निश्छल और अध्यात्म ज्ञानी को ही प्राप्त होता है। वह स्वय शरीर मे ममता उतारता है और आहार

...कर अपने स्थूल शरीर को तपाग्नि से जलाता है। अपने पूर्व कर्मों को सम्यक प्रकार से देखता है। आलोचना करता है और स्पर्शों में विचरण करता हुआ आत्मारामता पाता है। उसे किसी दुःख के भय से यह क्रिया यदि करनी पड़ती है अथवा कीर्ति अथवा इस मन्शा से करनी पड़ती है वहाँ यह आत्म हत्या का रूप ले लेती है। अतः पात्र की मानसिक एवं आत्मिक स्थिति में ही आत्म हत्या अथवा पंडित-मरण का सही भान होता है। सर्वज्ञ और सन्त समाधि-मरण का पक्षपाती रहा है।

महापुरुष और अवतार

जगत के धर्मावलम्बियों ने अपने महापुरुषों धर्म प्रवर्तकों एवं नायकों को अवतार रूप माना है। यों सभी मानवों का माता के गर्भ से अवतरण होता है अतः सभी मानव मानवी अवतार हैं। यों अवतार जन्म को सार्थक वही करता है जो इस जगत् के कल्याण के लिए पैदा होकर श्रेय कार्य करे और मरण को प्राप्त हो।

जैनियों मुसलमानों और वैष्णवियों में चौबीस चौबीस अवतार होना स्वीकार किया है। नाम भिन्न हैं लेकिन संख्या समान है। जब जब धर्म प्रचार की जरूरत होती है विशिष्ट मानव पैदा होता है। धर्म का प्रचार कर दुनिया को सन्मार्ग में लगाता है यही इसका रूपक है।

तथ्य वस्तु यह है कि जो जो मानव अपने पुरुषार्थ बल से आत्मिक शक्ति को बढ़ा कर दुनिया में परोपकार कार्यों को करने के लिए प्रबल प्रयास करता है जगत् में शांति और व्यवस्था के निमित्त संघ शासन तथा ऐसी दूसरी व्यवस्थाएँ देता है वह महापुरुष कहलाता है और कालान्तर में उसके अनुयायी उनकी दृष्टि से अवतार मान लेते हैं।

कोई ईश्वर की परिकल्पना न कोई है और न कोई समय-समय पर अपने बैकुण्ठधाम से जगत् में जन्म लेकर पापियों का नाश करता है और धर्म की स्थापना करता है। यह मान्यता भ्रामक है।

आर्य और अनार्य

पूर्व युग मे मानवो मे राक्षसी वृत्तियो के धनी को अनार्य और सद्वृत्तियो वालो को आर्य कहते आये हैं। बहुत लोग अपने आप को आर्य और अन्य को अनार्य कहते हैं। आर्य का अर्थ श्रेष्ठ और अनार्य का अर्थ नीच से लेते है। भारतवासी अपने आपको आर्यावर्ती, आर्य-देशवासी और आर्य कहते थे और अन्य देशवासियो को अनार्य-म्लेच्छ कह कर पुकारते थे।

लेकिन सर्वज्ञ वीर ने श्रेष्ठ कर्म करने वाले को आर्य और बुरे कर्म करने वाले को अनार्य कहा है। आर्य किसी जाति का नाम उनकी श्रेष्ठ वृत्तियो से पडा लेकिन कालान्तर मे वह रूढ बन गया अत आर्य शब्द का प्रयोग अपनी श्रेष्ठता और दूसरो की हीनता मे नही किया जाकर तथा अमुक देशवासी की दृष्टि से नही किया जाकर कार्य और आचरण की दृष्टि से करना चाहिए। वीर ने अपने सभी संघ धर्मियो को आर्य शब्द से पुकारा है और अन्य को भी "देवाणुप्पिया, अज्ज" शब्दो से ही उच्चरित किया है।

भूगोल (वर्तमान और भूत)

जैन और अजैन सभी भूत काल मे जो भूगोल मानते थे, करीब-करीब समान थी, जम्बू द्वीप, मेरु पर्वत आदि। पृथ्वी चपटी स्थिर मानते थे। आज विज्ञान का समय है। पृथ्वी पिण्ड के अलावा अन्य ज्योतिष पिडो की भी खोज की जा चुकी है। पुरानी मान्यता को आज की मान्यता से मिलाना मूर्खता होगी। शास्त्र सम्मत कोई चीज ठीक है कहना भी अनभिज्ञता है। चक्षु दृष्टि से जो स्पष्ट दीखती है उसे स्वीकार करना वीरानुयायी बनना है। सर्वज्ञ वीर की भूगोल कभी अपूर्ण नही रही। आचार्यो द्वारा निर्मित भूगोल के शास्त्र अपूर्ण हो सकते हैं अत: ऐसा मानकर सत्य का ग्रहण अनिवार्य है।

भूगोल स्वय पृथ्वी की गोलाई को साबित करती है और उनका

हत्या करना है। समाज की व्यवस्था मे ये धर्म के कहे जाने वाले स्थानक बाधक बनते है। मानव समाज को कई टुकडो मे बाटने वाले ये धर्म के स्थानक और धर्म समाज के अग बनते हुए भी सपूर्ण समाज के हित मे नही हो सके है। इन धर्म स्थानो को व्यवस्था और शाति हित प्रयोग मे लाने का उपयोग धर्म हो सकता है।

समाज मे शाति और व्यवस्था पैदा करने के लिए धर्म की उत्पत्ति हुई है। अब समाज मे ईर्षा, द्वेष, झगडे, अशाति और विद्रोह पैदा करने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। हिन्दू धर्म चाहता है हमारे अनुकूल सारा ससार मानव समाज बन जाय। मुसलिम भी यही चाहता है और क्रिश्चियन भी यही। इन सब के निजी प्रचारो मे मानवो की हत्याए और मानवो के सत्वो का नाश हो रहा है। मानव-समाज का सगठन और विश्व मानव-समाज की रचना करने मे ये बाधक है।

धर्म, आत्मा का उत्कर्षकारी है और समाज देह का उत्कर्षकारी है। इस दृष्टि से भी सोच कर वर्तन किया जाय तो विश्व मे सामाजिक व्यवस्था कायम हो सकती है। दुख तो इस बात का है कि जो-जो धर्म प्रवर्तक प्रबल पुरुपार्थी हुआ उसने राज्य के सहारे अपने मत का जबरदस्ती मानवो मे प्रचार किया और उसे ही मानने के लिए मानवो को बाध्य किया।

सर्वज्ञ वीर कहता है कि विश्व धर्म और विश्व समाज की रचना मे धर्म यदि सहयोग का काम नही करता तो वे अधर्म रहेगे। विश्व शाति मे धर्म और समाज का रिश्ता समान होना चाहिए। एक दूसरे का पूरक।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व

प्रत्येक धर्मावलम्बी अपने आपको सम्यक्त्वी और अन्य मतावलम्बी

को मिथ्यात्वी कहता है। ये धर्म के अखाड़ेबाजों को मान पूजा के प्रचार की वृत्तियां हैं। अपना सो सच्चा दूसरे का झूठा यह मान्यता ही स्वयं मिथ्यात्व की पोषक है। कोई काफिर कहते हैं तो कोई मिथ्यात्वी कहते हैं अथवा म्लेच्छ पुकारते हैं।

एक बार की घटना है। मैं स्वयं जयपुर गया हुआ था। १९५ के साल चारों जैन सम्प्रदाय के आचार्यों के अलग अलग चातुर्मास उसी नगरी में थे। मैंने एक आचार्य के पास अपनी बात रखी कि मैं अजैन हूँ जैन बनना चाहता हूँ। मैं नग्न मुनि के पास गया तो उन्होंने नग्न प्रतिमा की पूजा और नग्न साधु की मान्यता की बात कह कर सम्यक्त्वी जैन धर्मी बनने की बात कही। इसी तरह श्वेत वस्त्रधारी साधु ने अलंकृत प्रतिमा की पूजा और उनकी मान्यता की बात सम्यक्त्वी की बताई। मुख वस्त्रिका धारी साधुओं में से दोनों ने अपने अपने विधानानुसार चलने में जैनत्व के सम्यक्त्व की महिमा जाहिर की। मैंने उनसे कहा कि इन चारों में कौन सी बात स्वीकार करने से मैं जैनी सम्यक्त्वी बन जाऊंगा। तो वे चुप रह गये।

मैंने आचार्य श्री को कहा कि ये चारों अपने आप में जैनी नहीं हैं और न सम्यक्त्वी हैं। ये अपने-अपने मान पूजा के प्रचारक और जिन शासन के विरोधी मिथ्यात्वी हैं। वे मस्तक उठ। सही स्थिति आज यी यह है कि वीर का शासन इतना विकृत हो गया है कि असली स्थिति का बोध पाना साधारण जन का काम नहीं है।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व ये दो धर्म और शासन के मापक हैं। जो आत्मा में विश्वास करने वाला [illegible] तत्वज्ञ होता है वह सम्यक्त्वी होता है और इस प्रकार के विमुख करने धर्म का अनुयायी सम्प्रदायवादी मिथ्यात्वी होता है।

हत्या करना है। समाज की व्यवस्था मे ये धर्म के कहे जाने वाले स्थानक बाधक बनते है। मानव समाज को कई टुकडो मे बाटने वाले ये धर्म के स्थानक और धर्म समाज के अग बनते हुए भी सपूर्ण समाज के हित मे नही हो सके है। इन धर्म स्थानो को व्यवस्था और शाति हित प्रयोग मे लाने का उपयोग धर्म हो सकता है।

समाज मे शाति और व्यवस्था पैदा करने के लिए धर्म की उत्पत्ति हुई है। अब समाज मे ईर्षा, द्वेष, झगडे, अशाति और विद्रोह पैदा करने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। हिन्दू धर्म चाहता है हमारे अनुकूल सारा ससार मानव समाज बन जाय। मुसलिम भी यही चाहता है और क्रिश्चियन भी यही। इन सब के निजी प्रचारो मे मानवो की हत्याए और मानवो के सत्वो का नाश हो रहा है। मानव-समाज का सगठन और विश्व मानव-समाज की रचना करने मे ये बाधक हैं।

धर्म, आत्मा का उत्कर्षकारी है और समाज देह का उत्कर्षकारी है। इस दृष्टि से भी सोच कर वर्तन किया जाय तो विश्व मे सामाजिक व्यवस्था कायम हो सकती है। दु.ख तो इस बात का है कि जो-जो धर्म प्रवर्तक प्रबल पुरुषार्थी हुआ उसने राज्य के सहारे अपने मत का जबरदस्ती मानवो मे प्रचार किया और उसे ही मानने के लिए मानवो को बाध्य किया।

सर्वज्ञ वीर कहता है कि विश्व धर्म और विश्व समाज की रचना मे धर्म यदि सहयोग का काम नही करता तो वे अधर्म रहेगे। विश्व शाति मे धर्म और समाज का रिश्ता समान होना चाहिए। एक दूसरे का पूरक।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व

प्रत्येक धर्मावलबी अपने आपको सम्यक्त्वी और अन्य मतावलम्बी

को मिथ्यात्वी कहता है। य धम के अखाडेबाजों की मान पूजा के प्रचार की वर्तियां हैं। अपना सो सच्चा दूसरे का झूठा यह मान्यता ही स्वय मिथ्यात्व की पोषक है। कोई काफिर कहते हैं तो कोई मिथ्यात्वी कहते हैं अथवा म्लेच्छ पुकारते हैं।

एक बार की घटना है। मैं स्वय जयपुर गया हुआ था। १६५० के साल चारों जन सम्प्रदाय के आचार्यों के अलग अलग चातुर्मास उसी नगरी मे थ। मैंने एक आचाय के पास अपनी बात रखी कि मैं अजन हूँ जन बनना चाहता हूँ। मैं नग्न मुनि के पास गया तो उन्होंने नग्न प्रतिमा की पूजा और नग्न साधु की मान्यता की बात कह कर सम्यक्त्वी जन धर्मी बनने की बात कही। इसी तरह श्वेत वस्त्रधारी साधु ने अलकृत प्रतिमा की पूजा और उनकी मान्यता की बात सम्यक्त्वी की बताई। मुख वस्त्रिका धारी साधुओं म से दोनों ने अपने अपने विधानानुसार चलने म जनत्व के सम्यक्त्व की महिमा जाहिर की। मैंने उनसे कहा कि इन चारों म कौन सी बात स्वीकार करने से मैं जनी सम्यक्त्वी बन जाऊंगा। तो वे चुप रह गये।

मैंने आचाय श्री को कहा कि य चारों अपने आप में जनी नहीं हैं और न सम्यक्त्वी हैं। ये अपने अपने मान पूजा के प्रचारक और जिन शासन के विरोधी मिथ्यात्वी हैं। वे भडक उठ। सही स्थिति आज की यही है कि वीर का शासन इतना विकृत हो गया है कि असली स्थिति का बोध पाना साधारण जन का काम नहीं है।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के ये प्रपच और शासन के घातक हैं। जो आत्मा में विश्वास करने वाला अनेकान्तमयी तत्त्वज्ञ होता है वह सम्यक्त्वी होता है और आत्मा से विमुख गलत माग का अनुगामी सम्प्रदायवादी मिथ्यात्वी होता है।

क्या विवाह करना धर्म है ?

सयम मे धर्म है और असयम मे पाप । अनेक स्त्रियो के साथ खुला व्यवहार (मिथुनवृत्ति) करना असयम है लेकिन सीमित स्त्री रखना सयम है। इस दृष्टि से विवाह पाप का कारण नही अपितु धर्म का अग है । वीर जैसे तीर्थंकर विवाहोपरात माता के गर्भ से पैदा हुए । सारा ससार इसी क्रम से गुजर रहा है । अत' विवाह एक दृष्टि से धर्म है ।

क्या केवली आहार करते है ?

पूर्ण चेतन सत्ता की प्राप्ति के समय आत्मा केवलज्ञानी बन जाता है । ऐसी निर्ग्रन्थ की मान्यता हे । ऐसी अवस्था मे तीर्थंकर या केवली शरीर को चलाने के लिए आहार का सहारा पहले की तरह लेते है । औदारिक शरीर के योग्य पुद्गल ग्रहण किये विना शरीर अपनी क्रियाए नही कर मकता । अव प्रश्न है कि कवलाहार करते है या रोमाहार ? वास्तविक स्थिति तो कवलाहार की ही मानी जा सकती है । यह मानना सर्व दृष्टि से उपयुक्त भी है लेकिन रोमाहार या कवला-हार दोनो या दोनो मे से एक का सहारा लिये विना शरीर का वर्षों तक क्रिया करते रहना तो दूर एक क्षण भी सक्रिय नही रह सकता । समारी आत्मा शरीर के विना दर्शन नही दे सकती । शरीर के लिए कोई भी औदारिक या वैक्रय पुद्गलो का आहार आवश्यक है । मानव के लिए औदारिक पुद्गल ग्राह्य है । लब्वी के प्रयोग की जगह वैक्रय पुद्गल भी ग्रहण किये जाते हैं ।

क्या स्त्री को मुक्ति मिलती है ?

स्त्री हो या पुरुप अथवा नपुसक सभी को अपनी आत्मा की उन्नति का समान अवसर प्राप्त होता है । जव भी जिम लिंग मे जो आत्मा

हो सम्यक्त्व प्राप्ति और चारित्र ग्रहण का कार्य करता हुआ क्षायिक श्रेणी में गुणस्थानों में बढ़ता हुआ वह आत्मा अवश्य कर्मों से मुक्त हो जाता है। कषायों से मुक्ति प्राप्त करने का सबको समान अधिकार है। लिंग इसमें बाधक नहीं बन सकता। शरीर आत्मा का घर या साधन है। शरीर आत्मा नहीं। साधन आत्मोत्कर्ष में साधक बन जाता है यदि आत्मा उस ओर गति करती रहे। शारीरिक अंग प्रत्यंग तो पुरुष के भी हीनाधिक होते हैं और काम वासनाएं पुरुष और स्त्री में समान होती हैं। शरीर भेद से आत्म विकास में या कार्य प्रगति में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं हो सकती। उचित परिस्थितियों की अनुकूलता में सभी लिंग वाले सांसारिक और पारलौकिक उपलब्धियों को पाकर पारग बन सकते हैं। वीर प्रभु ने निर्वेदावस्था प्राप्ति पर ही मुक्ति लाभ होना बताया है अतः पुरुष हो चाहे स्त्री निर्वेदावस्था की प्राप्ति में मुक्ति अवश्य है। स्त्री भी निर्वेदावस्था को प्राप्त कर मुक्ति पा सकती है। उसके शरीर का आकार कोई भी बाधा नहीं पहुँचा सकता।

केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपद भावी हैं या क्रमभावी ?

सही स्थिति पूर्णात्म ज्ञान के धनी ही जान सकते हैं लेकिन साधारणतया पूर्ण ज्ञान युगपद भावी ही माना जा सकता है। तीनों काल और तीनों लोक के सम्पूर्ण पदार्थ और उनके पर्यायों को जो सर्वज्ञ या केवली एक साथ देख सकता है—जान सकता है (चक्षु से नहीं आत्म चेतन से) वह क्रमिक ज्ञान का धनी माना जाय यह विचारणीय है।

पूर्वाचार्यों में उपरोक्त मत भेद था और ग्रन्थों में वे भेद स्पष्ट प्रतिभासित है। अनेकांत मत की दृष्टि से दोनों मत आपेक्षाकृत ग्राह्य

है चूंकि इस ज्ञान का अनुभव वर्तमान ज्ञानियो को नही है। अत यही कहना पर्याप्त है कि यह विचारणा केवलगम्य है।

साधारण ज्ञान के पूर्व दर्शन का होना किसी तरह उपयुक्त है। उपयोग के पूर्व सामान्य आभास दर्शन का सूचक है या चक्षु से देखने, कान से सुनने, जीभ से चखने, नाक से सूघने और चर्म से स्पर्श करने पर सर्वप्रथम सामान्य ज्ञान अर्थात् दर्शन होता है उसके बाद मन· स्थिति से ज्ञान होता है। झटका लगते ही कुछ है का बोध दर्शन कहा जा सकता है। विकल्प युक्त स्पष्टीकरण से ज्ञान माना जा सकता है लेकिन पूर्ण और अनन्त ज्ञान मे क्रम होना असभव प्रतीत होता हे। आत्मा स्वय ज्ञानमयी बन जाती हे। सभी द्रव्य और पर्याय स्वमेव (आदर्श के समान की वस्तुओ की तरह) प्रतिभासित ही है। काल का कोई नाप दड शेप रहता है भूत, भविष्य और वर्तमान भी काल्पनिक है। जो कुछ हम को समझने का है वह इन कालो की गिनती से समझ मकते हैं। मुक्तात्मा, पूर्णात्मा है उसे सभी काल वर्तते दीखते नही। तीनो कालो का ज्ञान सदा वर्तमान है फिर दर्शन की पूर्व सत्ता को स्वीकार करने की विचारणा अनुभवगम्य ही कहा जा सकती हे।

क्या जैनों के उपलब्ध सूत्रो की वाणी वीर की है ? क्या वीर वाणी की यही परिधि है ?

मैं ऐसा कभी नही कह सकता। वीर ने जो देखा उसका अनन्तवा भाग कह सके और उसका अनन्तवा भाग गणधर सुनकर गथित कर सके। वह भी मौखिक रूप से वर्षो तक सुरक्षित नही रह सका। लिपिबद्ध करते समय स्मरण शक्ति नष्ट होती रही और आचार्यो ने भी पक्षवाद का पुट लगाया अत अक्षरश वीर वाणी उपलब्ध सूत्रो मे नही हो सकती।

वीर वाणी को परखने की कसौटी अनेकात सिद्धात है, जहा

हठाग्रह कदाग्रह और एकान्त नहीं है वहां वीर वाणी उपलब्ध हो जाती रहेगी। आज दिगंबर और श्वेताम्बरों की मान्यताएं इतनी क्या दूर हो गई। दोनों ही वीर वाणी की प्ररूपणा करते हैं। उसी को मानते हैं। धनकेग्रन्थों और श्वेताम्बरों के सूत्रों में इतना सारा मूल अन्तर क्यों? क्षेत्र समय और परिस्थिति वश आचार्य लोग मूल मान्यताओं में भी परिवर्तन करते रहे। किसी भी क्षेत्र किसी भी काल और किसी भी परिस्थिति में परिवर्तित वीर वाणी भी अनेकांत की पुट से वीर वाणी बन जायगी अन्त मैं कहता हूं कि वीर की वाणी को कोई शून्य नहीं सकता बांध नहीं सकता। जो-जो पक्ष वीर वाणी को सीमित मानते हैं वे वीर वाणी की महत्ता को समझने की कोशिश करें। वीर वाणी सभी क्षेत्रों सभी कालों और सभी परिस्थितियों में वर्तमान है रहा और रहेगी। वीर वाणी शाश्वत् है। जनियों द्वारा माने हुए सूत्र और ग्रंथ ही वीर वाणी नहीं हो सकते। ससार के सभी प्राणियों को जहां उन्नति का समान अवसर दिया गया है वहां वीर वाणी विद्यमान है। सहअस्तित्व का सिद्धांत जहां है वहां वीर वाणी का प्रादुर्भाव होता रहता है। विश्व के सभी धर्मों के धर्मों-ग्रंथों में वीर वाणी का कुछ न कुछ अंश विद्यमान है। यहां तक कि विश्व के सभी प्राणियों की आत्माओं में भी वीर वाणी का प्रकाश विद्यमान है। जनियों को अपने सूत्रों की महत्ता में वीर वाणी का महत्त्व नहीं भूलना है।

श्रद्धा और तर्क

मानवों के मस्तिष्क में जिज्ञासा वृत्ति में तर्क का सद्भाव होता है अतः ज्ञान प्राप्ति में तर्क आवश्यक है। तर्क से जो प्राप्त हो उसमें विश्वास भी आवश्यक है। कोरी तर्क और कोरी श्रद्धा अधूरी होती है। श्रद्धा से बोध और तर्क से बुद्धि का विस्तार होता है। बुद्धि के विस्तार के बाद बोध की प्राप्ति का आधार श्रद्धा ही है। श्रद्धा से ज्ञान प्राप्त होता है और चारित्र धर्म की आराधना कर मुक्ति लक्ष्मी पा सकता

है। अत' तर्क शून्य श्रद्धा और श्रद्धा शून्य ज्ञान नही होना चाहिए। लक्ष्य की प्राप्ति मे श्रद्धा आवश्यक है। लक्ष्य की निश्चिति मे तर्क की आवश्यकता है। तर्क का अंत श्रद्धा मे हो यही श्रेय मार्ग है। भगवान की वीर वाणी है अत तर्क नही करना यह कहना भ्रमपूर्ण है। तर्क की प्रतिष्ठा से पैदा की गई श्रद्धा नष्ट नही होती। अतः वीर का उपदेश है कि 'सद्दाहु खलु दुल्लहो' श्रद्धा निश्चय ही दुर्लभ है। श्रद्धा प्राप्त होने पर कायम रहती है वही सम्यक्त्व है। सम्यक्दर्शन भी उसे ही कहते है।

OOO

ज्ञान-चेतना जागृत करने वाला विश्लेषण

श्री उदय जी यथा नाम तथा गुण के अनुरूप वस्तुतः उदय जन हैं। जब से मेरा परिचय है उदयजी में मैंने उन्हें विकास के पथ पर निरन्तर गतिशील देखा है। नव निर्माण के तो वे एक प्रकार से शक्ति स्तम्भ बना हैं।

उदयजी का चिन्तन, मनन एवं लेखन प्राणवान एवं तेजस्वी होता है। वे निर्भीकता के साथ सत्य के प्रति समर्पित हैं। जो कुछ कहना होता है उन्हें उस में मत पथ एवं परम्परा से काफी ऊँचे उठकर बहुत स्पष्ट बेलाग भाषा में कह देते हैं। सत्य के साधक की यही एक राह है जिस पर उदयजी शान के साथ चल रहे हैं।

श्रमण भगवान महावीर के पच्चीसवें सौवें परिनिर्वाण पर्व के मंगल प्रसंग पर अनेक मनीषियों द्वारा भगवान महावीर से सम्बन्धित साहित्य का लेखन एवं प्रकाशन हो रहा है। उदयजी ने भी इसी माध्यम से अपनी श्रद्धाञ्जलि प्रभु चरणों में अर्पित की है। वीर विभूति का 'सर्वज्ञ महावीर' नामक तृतीय खण्ड मेरे समक्ष उपस्थित है। अवकाशाभाव के कारण विहंगावलोकन के रूप में जो कुछ भी मैंने देखा है काफी सुन्दर है। विश्लेषण गंभीर है पाठक की ज्ञान चेतना को जागृत करता है। जैन तत्व ज्ञान अनेकान्त गुणस्थान दश धर्म आदि विषयों पर इनका अच्छा चिन्तन प्रस्तुत किया है जो कुछ स्थलों पर तो बहुत ही मार्मिक एवं हृदयग्राही हो गया है।

उदयजी स्नेह धन्यवादार्ह हैं। आशा है उनकी इस कृति का सहृदय समाज हृदय से स्वागत करेगा।

उपाध्याय अमर मुनि

वीरायतन
राजगृही (नालन्दा)
दिनांक ११ जून १९७४